श्रमण

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

जनवरी-मार्च १९९१

वर्ष ४२

१-३

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह

सहसम्पादक
डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४२ जनवरी-मार्च १९९१ अंक १-३

प्रस्तुत अंक में

वार्षिक शुल्क
चालीस रुपये

एक प्रति
दस रुपया

ज्योतिपुञ्ज महावीर

—पुखराज भण्डारी

अपना सर्वस छोड़ चला यह कौन पुजारी।
सहज भाव से आज बना यह कौन भिखारी।।
परिणाम अरे, इस कठिन पंथ का क्यों नहिं सोचा।
भौतिक सुख की, तृष्णा की है दृष्टि निवारी।।

आज भाल पर मुकुट नहीं है, वस्त्र नहीं हैं।
आज भुजा पर शासक-सूचित शस्त्र नहीं हैं।।
कल का राजा आज देख लो, रंक बना है।
सत्ता का अधिकार नहीं है, अस्त्र नहीं हैं।।

जन-जन का मानस है इतना आलोडित क्यों।
अरे तपस्वी ! मानवता इतनी पीड़ित क्यों।।
आज पशु पर यज्ञों का ताण्डव क्यों चलता।
हिंसा–मिथ्या पर यह जग इतना मोहित क्यों।।

नारी की यह हीन अवस्था भली विचारी।
छुआछूत की अग्नि की कैसी चिनगारी।।
स्वार्थ, प्रतिष्ठा साधन में है धर्म समाया।
अस्तु, महात्मन् ! तेरे तप की चले कटारी।।

पीड़ित मानवता कष्टों से मुक्ति पाये।
सत्य–अहिंसा के गीतों की शक्ति पाये।।
चण्डकौशिया का विष सब हो जाये पानी।
प्राणि-मात्र की सेवाकी जग भक्ति पाये।।

ब्रह्मचर्य की आज पताका ऊँची फहरे।
चन्दनबालाओं का अंचल नभ में लहरे।।
गोशालक की मूढ़ भावना मिटे जगत् से।
अनेकांत की सम्यग्दृष्टि ! रोक प्रलय रे।।

कानों में कीले ठोंके, तेरा क्या बिगड़ा ?
मान मिले अपमान मिला, किसका क्या बिगड़ा।।
पहचानी है चेतन की मर्यादा जिसने।
कहो देव ! फिर दुनिया में कैसा है झगड़ा।।

देवों का या इन्द्रों का कुछ योग नहीं था।
स्वर्गपुरी के सुखों का उपभोग नहीं था।।
आध्यात्मिक शक्ति की यह थी चरमावस्था।
मृत्यु नहीं थी, वृद्धावस्था, रोग नहीं था।।

आज जगत् को उसी शांति का गीत सुना दो।
ईर्ष्याद्वेष मिटाने का संगीत सुना दो।।
भेदभाव तज, हम तुम-से ऊँचे हो जायें।
मनको मलको धो दे, वह नवनीत बता दो।।

तेरे गौतम आज कहाँ हैं देवी सुलसा।
अंतरिक्ष है आज प्रलय लपटों में झुलसा।।
दो आशीष की विषमें अमृतधारा फूटे।
गले मिले यह विश्व, स्वार्थ हो जाये तृण-सा।।

जगत् प्राणियो, तभी तपस्वी पूजित होगा।
विश्व-प्रेम की मधुरध्वनि से गुञ्जित होगा।।
तभी तपस्या महावीर की सफल बनेगी।
सकल विश्व में शांति का स्वर पूरित होगा।।



जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कला तत्त्व

—प्रो० सागरमल जैन

कर्मकाण्ड और आध्यात्मिक साधनाएँ प्रत्येक धर्म के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्ड उसका शरीर है और अध्यात्मवाद उसका प्राण है। भारतीय धर्मों में प्राचीनकाल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म कर्मकाण्डात्मक अधिक रहा है, वहाँ प्राचीन श्रमण परम्पराएँ साधनात्मक अधिक रहीं हैं। फिर भी इन दोनों प्रवृत्तियों को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् रख पाना कठिन है। श्रमण परम्परा में आध्यात्मिक और धार्मिक साधना के जो विधि-विधान बने वे भी धीरे-धीरे कर्मकाण्ड के रूप में ही विकसित होते गये। अतः वर्तमान संदर्भों में न तो हम यह कह सकते हैं कि वैदिक परम्परा पूर्णतया कर्मकाण्डात्मक है और न यह कह सकते हैं कि श्रमण परम्परा के धर्मों अर्थात् जैन एवं बौद्धधर्मों में धार्मिक कर्मकाण्डों का पूर्णतया अभाव है। फिर भी आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्यों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि इनमें अधिकांश कर्मकाण्ड वैदिक या ब्राह्मण परम्परा अथवा दूसरी अन्य परम्पराओं के प्रभाव से आये हैं। इन दोनों धर्मों ने मात्र उन कर्मकाण्डों को अपने धर्म और दर्शन के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है।

जैन परम्परा मूलतः श्रमण परम्परा का ही एक अंग है और इसलिए यह अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना प्रधान रही है। मात्र यही नहीं उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन-ग्रंथों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड का विरोध ही परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिकरूप प्रदान किया है। तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग ने यज्ञ, श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन

और बौद्ध परम्पराओं ने उनका खुला विरोध किया और इस विरोध में उन्होंने इन सबको एक नया अर्थ प्रदान किया। भारतीय अनुष्ठानों/कर्मकाण्डों में यज्ञ/होम तथा स्नान अति प्राचीनकाल से प्रचलित रहे हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि "जो पाँच संवरों से पूर्णतया सुसंवृत हैं अर्थात् इन्द्रियजयी हैं जो जीवन के प्रति अनासक्त हैं, जिन्हें शरीर के प्रति ममत्वभाव नहीं है, जो पवित्र हैं और जो विदेह भाव में रहते हैं, वे आत्मजयी महर्षि ही श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं। उनके लिए तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है। मन, वचन, और काय की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है। यही यज्ञ संयम से युक्त होनें के कारण शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञों की प्रशंसा की है"। स्नान के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसमें कहा गया है—धर्म ही हृद (तालाब) है, ब्रह्मचर्य तीर्थ (घाट) है और अनाकुल दशारूप आत्म प्रसन्नता ही जल है जिसमें स्नान करने से साधक दोषरहित-विमल एवं विशुद्ध हो जाता है।[1] बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय के सुत्तनिपात में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन किया है। उसमें उन्होंने बताया है कि कौन सी अग्नियाँ त्याग करने के योग्य हैं और कौन सी अग्नियाँ सत्कार करने के योग्य हैं। वे कहते हैं कि "कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि त्याग करने योग्य हैं और आह्वानीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि अर्थात् माता-पिता की सेवा, पत्नी और सन्तान की सेवा तथा श्रमण-ब्राह्मणों की सेवा करने योग्य है।[2] महाभारत के शान्तिपर्व और गीता में भी यज्ञों के ऐसे ही आध्यात्मिक और सेवापरक अर्थ किये गये हैं।[3]

जैन परम्परा ने प्रारम्भ में धर्म के नाम पर किये जानें वाले कर्मकाण्डों का विरोध किया और अपने उपासकों तथा साधकों को ध्यान, तप आदि की आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरित किया। जैन धर्म के प्राचीनतम ग्रंथों में हमें धार्मिक कर्मकाण्डों एवं विधि-विधानों के सम्बन्ध में केवल तप एवं ध्यान की विधियों के अति-रिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पार्श्वनाथ ने तो तप के

कर्मकाण्डात्मक स्वरूप का भी विरोध किया था। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध महावीर की जीवनचर्या के प्रसंग में उनकी ध्यान एवं तप-साधना की पद्धति का उल्लेख करता है।[4] इसके पश्चात् आचारांग के द्वितीय-श्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों में हमें मुनि जीवन से सम्बन्धित भिक्षा, आहार, निवास एवं विहार-सम्बन्धी नियम मिलते हैं। इन्हीं नियमों के संदर्भ में उत्तराध्ययन में तपस्या के विविध रूपों की चर्चा भी हमें उपलब्ध होती है।[5] तपस्या करने की विविध विधियों की चर्चा हमें अन्तकृतदशा में भी उपलब्ध होती है जो कि उत्तराध्ययनसूत्र के तप सम्बन्धी उल्लेखों की अपेक्षा परवर्ती एवं अनुष्ठानपरक हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अंतगडदसाओ (अंतकृत-दशा) का वर्तमान स्वरूप ईसा की ५ वीं शताब्दी के पश्चात् का ही है। उसमें गुणरत्नसंवत्सरतप, रत्नावलीतप, लघुसिंहक्रीड़ातप, कनकावलीतप, मुक्तावलीतप, महासिंहनिष्क्रीडिततप, सर्वतोभद्रतप, भद्रोत्तरतप, महासर्वतोभद्रतप और आयम्बिलवर्धमानतप आदि के उल्लेख मिलते हैं।[6] जहाँ तक श्रमण साधकों के नित्यप्रति के धार्मिक कृत्यों का सम्बन्ध है हमें ध्यान एवं स्वाध्याय के ही उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन के अनुसार मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करें। इसी प्रकार रात्रि के चार प्रहरों में प्रथम में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करें।[7] नित्य कर्म के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख 'प्रतिक्रमण' के मिलते हैं। पार्श्वनाथ और महावीर की धर्मदेशना का एक मुख्य अन्तर प्रतिक्रमण की अनिवार्यता रही है। महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण धर्म कहा गया है। महावीर के धर्मसंघ में प्रतिक्रमण एक दैनिक अनुष्ठान बना। इसी से षडावश्यकों की अवधारणा का विकास हुआ। आज भी प्रतिक्रमण षडावश्यकों के साथ किया जाता है। श्वे० परम्परा के आवश्यक सूत्र एवं दिगम्बर और यापनीय परम्परा के मूलाचार में इन षडावश्यकों के उल्लेख हैं। ये षडावश्यक कर्म हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग (ध्यान) और प्रत्याख्यान। यद्यपि प्रारम्भ में

इन षडावश्यकों का सम्बन्ध मुनि-जीवन से ही था किन्तु आगे चलकर उनको गृहस्थ-उपासकों के लिए भी आवश्यक माना गया।[8] आवश्यकनिर्युक्ति में वंदन आदि की विधि एवं दोषों की जो चर्चा है उससे इतना अवश्य लगता है कि क्रमशः इन दैनन्दिन क्रियाओं को भी अनुष्ठानपरक एवं कलात्मक बनाया गया था। यद्यपि आज एक रूढ़ क्रिया के रूप में ही षडावश्यकों को सम्पन्न किया जाता है।

जहाँ तक गृहस्थ उपासकों के धार्मिक कृत्यों या अनुष्ठानों का प्रश्न हमें उनके सम्बन्ध में भी ध्यान एवं उपोषथ या प्रौषध विधि के प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उपासकदशांग में शकडालपुत्र एवं कुण्डकौलिक के द्वारा मध्याह्न में अशोकवन में शिलापट्ट पर बैठकर उत्तरीय वस्त्र एवं आभूषण उतारकर महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति की साधना अर्थात् सामायिक एवं ध्यान करने का उल्लेख है।[9] बौद्ध त्रिपिटक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि निर्ग्रंथ श्रमण अपने उपासकों को ममत्वभाव का विसर्जन कर कुछ समय के लिए समभाव एवं ध्यान की साधना करवाते थे।[10] इसी प्रकार भगवतीसूत्र में भोजनोपरान्त अथवा निराहार रहकर श्रावकों के द्वारा प्रौषध करने के उल्लेख मिलते हैं।[11] त्रिपिटक में बौद्धों ने निर्ग्रंथों के उपोषथ की आलोचना भी की है। इससे यह बात पुष्ट होती है कि प्रौषध की परम्परा महावीरकालीन तो है ही।[12] सूत्रकृतांग में महावीर की जो स्तुति उपलब्ध होती है, वह सम्भवतः जैन परम्परा में तीर्थंकरों के स्तवन का प्राचीनतम रूप है।[13] उसके बाद कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र एवं राजप्रश्नीय में हमें वीरासन से शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[14] दिगम्बर परम्परा में आज वंदन के अवसर पर जो 'नमोऽस्तु' कहने की परम्परा है वह इसी 'नमोत्थुणं' का संस्कृत रूप है। दुर्भाग्य से दिगम्बर परम्परा में यह प्राकृत का सम्पूर्ण पाठ सुरक्षित नहीं रह सका। चतुर्विंशतिस्तव का एक रूप आवश्यकसूत्र में उपलब्ध है इसे 'लोगस्स……' का पाठ कहते हैं। यह पाठ कुछ परिवर्तन के साथ दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में भी उपलब्ध है। तीन आवर्तों के द्वारा 'तिक्खुत्तो' पाठ से तीर्थंकर, गुरु एवं मुनि-वंदन की

प्रक्रिया भी प्राचीनकाल में प्रचलित रही है। अनेक आगमों में तत्सम्बन्धी उल्लेख हैं।[15] श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित 'तिखुत्तो' के पाठ का ही एक परिवर्तित रूप हमें षट्खण्डागम के कर्म अनुयोगाद्वार के २८ वें सूत्र में मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए दोनों पाठ विचारणीय है (देखें, पाद टिप्पणी)* गुरुवंदन के लिए 'खमासमना' के पाठ की प्रक्रिया उसकी अपेक्षा परवर्तीहै। यद्यपि यह पाठ आवश्यक जैसे अपेक्षाकृत प्राचीन आगम में मिलता है फिर भी इसमें प्रयुक्त क्षमाश्रमण (खमासमणो) शब्द के आधार पर प्रो० ढाकी इसे ५ वीं शती के लगभग का मानते हैं।[16] क्योंकि तब से जैनाचार्यों के लिए 'क्षमाश्रमण' पद का प्रयोग होने लगा था। गुरुवंदन से ही चैत्यों का निर्माण होने परचैत्यवंदन का विकास हुआ। चैत्यवंदन की विधि को लेकर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये हैं।

इसी स्तवन एवं वंदन की प्रक्रिया का विकसित रूप जिनपूजा में उपलब्ध होता है, जो कि जैन अनुष्ठान का महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत प्राचीन अंग है। वस्तुतः वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी परम्परा में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजा-विधि का विकास हुआ था और श्रमण परम्परा में तपस्या और ध्यान का। यक्षपूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। फिर इसी भक्तिमार्गीधारा का प्रभाव जैन और बौद्ध धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामतः प्रथम स्तूप, चैत्य आदि के रूप में प्रतीक पूजा प्रारम्भ हुई फिर सिद्धायतन (जिन-मन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन प्रतिमा की पूजा होने लगी। फलतः जिन-

---

* तिक्खुत्तो आयाहीणं पयाहीणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्मानेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थयेण वंदामि।

(नोट—यह पाठ किंचित् परिवर्तन के साथ अनेक आगमों में उपलब्ध है।)

तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तियोणद चदुसिरं वारसावतं त सव्व किरियापणामं।

—षट्खण्डागम, कर्मअनुयोगद्वार २८।

पूजा एवं दान को गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना गया। दिगम्बर परम्परा में तो गृहस्थ के लिए षडावश्यक के स्थान पर निम्न षट् दैनिक कृत्यों की कल्पना की गयी—जिनपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान। हमें आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि प्राचीन आगमों में जिनपूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अपेक्षाकृत परवर्ती आगमों—स्थानांग आदि में जिन-प्रतिमा एवं जिनमन्दिर (सिद्धायतन) के उल्लेख हैं, किन्तु उनमें पूजा सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है। जबकि राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव और ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी के द्वारा जिनप्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीय के वे अंश जिसमें सूर्याभदेव के द्वारा जिनप्रतिमा-पूजन एवं जिन के समक्ष वाद्य, संगीत, नृत्य, नाटक आदि के उल्लेख हैं—ज्ञाताधर्मकथा से परवर्ती है और गुप्त-काल के पूर्व के नहीं हैं। चाहे राजप्रश्नीय की प्रसेनजित्-सम्बन्धी कथा पुरानी हो, किन्तु सूर्याभदेव सम्बन्धी कथा प्रसंग में जिनमन्दिर के पूर्णतः विकसित स्थापत्य के जो संकेत हैं, वे उसे गुप्तकाल से पूर्व का सिद्ध नहीं करते हैं। फिर भी यह सत्य है कि जिन-पूजा-विधि का इससे विकसित एवं प्राचीन उल्लेख श्वे० परम्परा के आगम-साहित्य में अन्यत्र नहीं हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द रयणसार में लिखते हैं—

दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण वि णा।
झाणज्झयणं मुक्ख जइ धम्मे ण तं विणा सो वि॥

अर्थात् गृहस्थ के कर्तव्यों में दान और पूजा मुख्य हैं और यति/श्रमण के कर्तव्यों में ध्यान और स्वाध्याय मुख्य हैं। इस प्रकार पूजा सम्बन्धी अनुष्ठानों को गृहस्थ के कर्तव्य के रूप में प्रधानता मिली। परिणामतः गृहस्थों के लिए अहिंसादि अणुव्रतों का पालन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया जितना पूजा आदि विधि-विधान को सम्पन्न करना। प्रथम तो पूजा को कृतिकर्म (सेवा) का एक रूप माना गया, किन्तु आगे चलकर उसे अतिथिसंविभाग का अंग माना गया।

दिगम्बर परम्परा में भी जैन अनुष्ठानों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्द रचित दस भक्तियों में एवं मूलाचार के षडावश्यक अध्ययन में मिलता है। जैन शौरसेनी में रचित इन सभी भक्तियों के प्रणेता कुन्दकुन्द हैं—यह कहना कठिन है, फिर भी कुन्दकुन्द के नाम से उपलब्ध भक्तियों में से पाँच पर प्रभाचन्द्र की क्रियाकलाप नामक टीका है।[17] अतः किसी सीमा तक इनमें से कुछ के कर्ता के रूप में कुन्दकुन्द को स्वीकार किया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत भाषा में रचित बारह भक्तियाँ भी मिलती हैं। इन सब भक्तियों में मुख्यतः पंचपरमेष्ठी-तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य, मुनि एवं श्रुत आदि की स्तुतियाँ हैं। श्वे० परम्परा में जिस प्रकार नमोत्थुणं (शक्रस्तव), लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव), चैत्यवंदन आदि उपलब्ध हैं। उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी ये भक्तियाँ उपलब्ध हैं। इनके आधार पर ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में जिनप्रतिमाओं के सम्मुख केवल स्तवन आदि करने की परम्परा रही होगी। वैसे मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन पुरातत्त्वीय अवशेषों में कमल के द्वारा जिन-प्रतिमा के अर्चन के प्रमाण हैं—इसकी पुष्टि राजप्रश्नीय से भी होती है। यद्यपि भावपूजा के रूप में स्तवन की यह परम्परा—जो कि जैन अनुष्ठान विधि का सरलतम एवं प्राचीनरूप है, आज भी निर्विवाद रूप से चली आ रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ मुनियों के लिए केवल भावपूजा अर्थात् स्तवन का ही विधान करती हैं। द्रव्यपूजा के सम्बन्ध में राजप्रश्नीय में वर्णित सूर्याभदेव द्वारा की जाने वाली पूजा-विधि आज भी (श्वे० परम्परा में) उसी रूप में प्रचलित है। उसमें प्रतिमा के प्रमार्जन, स्नान, अंगप्रोच्छन, गंध-विलेपन, गंधमाल्य, वस्त्र आदि के अर्पण के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीय में उल्लिखित पूजाविधि भी जैन परम्परा में एकदम विकसित नहीं हुई है। स्तवन से चैत्यवंदन और चैत्यवंदन से पुष्प अर्चा प्रारम्भ हुई होगी। यह भी सम्भव है कि जिनमन्दिरों और जिनबिम्बों के निर्माण के साथ पुष्पपूजा प्रचलित हुई होगी। फिर क्रमशः पूजा की सामग्री में वृद्धि होती गई और अष्टद्रव्यों से पूजा होने लगी। डॉ० नेमिचन्द शास्त्री के शब्दों में— "पूजन सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा

हमें जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है। आरम्भ में पूजन विधि केवल पुष्पों द्वारा सम्पन्न की जाती थी, फिर क्रमशः धूप, चंदन और नैवेद्य आदि पूजा द्रव्यों का विकास हुआ। पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं जटासिंहनन्दि के वरांगचरित से हमारे उक्त कथन का सम्यक् समर्थन होता है। वारांगचरित में राजा श्रीकण्ठ कहता है कि मैंने नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गंध से भगवान् की पूजा करने का संकल्प किया था, पर वह पूरा न हो सका।

रावण स्नान कर धौतवस्त्र पहन, स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिन-बिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा। उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा सामग्री में धूप, चंदन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। अतः स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बरों की अपेक्षा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

स्थापयित्वा घनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः
धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः ॥

—पद्मपुराण, १०/८६

सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में जिनसेन ने जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत नहीं है और न जल का पृथक् निर्देश ही है। अभिषेक में दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दधि एवं जल का निर्देश है, पर पूजन सामग्री में जल का कथन नहीं आया है। स्मरण रहे कि प्रक्षालन की प्रक्रिया का अग्रिम विकास अभिषेक है जो अपेक्षाकृत परवर्ती है।

अष्टद्रव्यों का विकास शनैः शनैः हुआ है, इस कथन को पुष्टि अमितगतिश्रावकाचार से भी होती है। इसमें गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और अक्षत इन छः द्रव्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है। जटासिंह ने अपने समय में प्रचलित समस्त मंगल द्रव्यों से पूजन करने का निर्देश किया है।

पद्मपुराण, पद्मनन्दिकृतपंचविंशति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रंथों से अष्टद्रव्यों का फलादेश भी ज्ञात होता है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने से

ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।"

डॉ० नेमीचन्दजी शास्त्री द्वारा प्रस्तुत यह विवरण दिगम्बर परम्परा में पूजा द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है।

श्वे० परम्परा में पंचोपचारी पूजा से अष्टप्रकारी पूजा और उसी से सर्वोपचारी या सतरह भेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारी पूजा का ही रूप है। बहुत कुछ रूप में इसका उल्लेख राजप्रश्नीय में उपलब्ध है।

राजप्रश्नीय सूत्र में सूर्याभदेव द्वारा की गई जिनपूजा का वर्णन इस प्रकार है—"सूर्याभदेव ने व्यवसाय सभा में रखे हुए पुस्तकरत्न को अपने हाथ में लिया, हाथ में लेकर उसे खोला, खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर धार्मिक क्रिया करने का निश्चय किया, निश्चय करके पुस्तकरत्न को वापस रखा, रखकर सिंहासन से उठा और नन्दा नामक पुष्करिणी पर आया। नन्दा पुष्करिणी में प्रविष्ट होकर उसने अपने हाथ-पैरों का प्रक्षालन किया तथा आचमन कर पूर्णरूप से स्वच्छ और शूचिभूत होकर स्वच्छ श्वेत जल से भरी हुई भृंगार (झारी) तथा उस पुष्करिणी में उत्पन्न शतपत्र एवं सहस्रपत्र कमलों को ग्रहण किया फिर वहाँ से चलकर जहाँ सिद्धायतन (जिनमंदिर) था, वहाँ आया। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवच्छन्दक और जिनप्रतिमा थी वहाँ आया, आकर जिनप्रतिमाओं को प्रणाम किया। प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली, प्रमार्जनी से जिनप्रतिमा को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुगन्धित जल से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके उन पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। गोशीर्ष चंदन का लेप करने के पश्चात् उन्हें सुवासित वस्त्रों से पोंछा, पोंछकर जिनप्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्पमाला, गंध-चूर्ण एवं आभूषण चढ़ाये। तदनन्तर नीचे लटकती लम्बी-लम्बी गोल मालाएँ पहनायीं। मालाएँ पहनाकर पंचवर्ण के पुष्पकुंजों की वर्षा की। फिर जिनप्रतिमाओं के समक्ष विभिन्न चित्रांकन किये एवं श्वेत तन्दुलों से अष्टमंगल का आलेखन किया। उसके पश्चात् जिन-

प्रतिमाओं के समक्ष धूपक्षेप किया। धूपक्षेप करने के पश्चात् विशुद्ध, अपूर्व, अर्थसम्पन्न, महिमाशाली १०८ छन्दों से भगवान् की स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पैर पीछे हटा। पीछे हटकर बाँया घुटना ऊँचा किया तथा दायाँ घुटना जमीन पर झुकाकर तीन बार मस्तक पृथ्वीतल पर नमाया। फिर मस्तक ऊँचा कर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अँजलि करके 'नमोत्थुणं अरहन्ताणं.........ठाणं संपत्ताणं' का पाठ किया। इस प्रकार अर्हन्त और सिद्ध भगवान् की स्तुति करके फिर जिनमंदिर के मध्य भाग में आया। उसे प्रमार्जित कर दिव्य जलधारा से सिंचित किया और गोशीर्ष चंदन का लेप किया तथा पुष्पसमूहों की वर्षा की। तत्पश्चात् उसी प्रकार उसने मयूरपिच्छि से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्यालों को प्रमार्जित किया तथा उनका प्रक्षालन कर उनको चंदन से अर्चित किया तथा धूपक्षेप करके पुष्प एवं आभूषण चढ़ाये। इसी प्रकार उसने मणि-पीठिकाओं एवं उनकी जिनप्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की तथा महेन्द्र-ध्वजा की पूजा-अर्चना की।[18] इससे स्पष्ट है कि राजप्रश्नीय में जिनपूजा की एक सुव्यवस्थित अनुष्ठान प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

राजप्रश्नीय के अतिरिक्त अष्टप्रकारी पूजा का उल्लेख आवश्यक-निर्युक्ति एवं उमास्वाति के पूजा-विधि-प्रकरण में उपलब्ध है। यद्यपि यह कृति उमास्वाति की ही है अथवा उनके नाम से अन्य किसी की रचना है, इसका निर्णय करना कठिन है। अधिकांश विचारक इसे अन्यकृत मानते हैं। इस पूजा-विधि-प्रकरण में यह बताया गया है कि पश्चिम दिशा में मुख करके दन्तधावन करे फिर पूर्वमुख हो स्नानकर श्वेत वस्त्र धारण करे और फिर पूर्वोत्तर मुख होकर जिनबिंब की पूजा करे। इस प्रकरण में अन्य दिशाओं और कोणों में स्थित होकर पूजा करने से क्या हानियाँ होती हैं यह भी बतलाया गया है। पूजा-विधि की चर्चा करते हुए यह भी बताया गया है कि प्रातःकाल वासक्षेप पूजा करनी चाहिए। पूजा में जिन-बिंब के भाल, कंठ आदि नव स्थानों पर चंदन के तिलक करने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि मध्याह्नकाल में कुसुम से तथा संध्या में धूप और दीप से पूजा की जानी चाहिए। इसमें

पूजा के लिए कीट आदि से रहित पुष्पों के ग्रहण करने का उल्लेख है। साथ-साथ यह भी बताया गया है कि पूजा के लिए पुष्प के टुकड़े करना या उन्हें छेदना निषिद्ध है। इसमें गंध, धूप, अक्षत, दीप, जल, नैवेद्य, फल आदि अष्टद्रव्यों से पूजा का भी उल्लेख है।[19] इस प्रकार यह ग्रंथ भी श्वेताम्बर जैन परम्परा की पूजा-पद्धति का प्राचीनतम आधार कहा जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में जिनसेन के महापुराण में एवं यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में जिनप्रतिमा की पूजा के उल्लेख हैं। इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैनपरम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या गुण-स्तुति का स्थान था। उसी से आगे चलकर भावपूजा और द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई। उसमें भी द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिए हुआ। तत्पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में जिनपूजा-सम्बन्धी जटिल विधिविधानों का विस्तार हुआ, यद्यपि वह सभी ब्राह्मण परंपरा का प्रभाव था। फिर आगे चलकर जिनमंदिर के निर्माण एवं जिनबिंबों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विधि-विधान बने। पं० फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री ज्ञानपीठ पूजांजलि की भूमिका में और स्व० डॉ० नेमिचंदजी शास्त्री ने, अपने एक लेख पुष्पकर्म-देवपूजा : विकास एवं विधि—जो उनकी पुस्तक भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान (प्रथम खण्ड) पृ० ३७९ पर प्रकाशित है में इस बात को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि जैन परंपरा में पूजा-द्रव्यों का क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि पुष्पपूजा प्राचीनकाल से प्रचलित है फिर भी यह जैन परंपरा के आत्यन्तिक अहिंसा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो पूजा विधान का यह पाठ—जिसमें मार्ग में होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो—

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादात्,
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकाय बाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे॥

स्मरणीय है कि श्वे० परंपरा में चैत्यवंदन में भी 'इरियाविहि 'विराहनाये' नामक पाठ किया जाताहै—जिसका तात्पर्य भी चैत्य-वंदन के लिए जाने में हुई एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त है : तो दूसरी ओर पूजा विधानों में, होमों में, पृथ्वी, वायु, अप, अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का विधान—एक आन्तरिक असंगति तो है हो। यद्यपि यह भी सत्य है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी से ही जैन ग्रंथों में इसका समर्थन देखा जाता है। सम्भवतः ईसा की छठी-सातवीं शती तक जैनधर्म में पूजा-प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें से अनेक का मुनियों के लिए निषेध करना पड़ा। हरिभद्र ने सम्बोधप्रकरण में चैत्यों में निवास, जिनप्रतिमा की द्रव्यपूजा, जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैनमुनि के लिए निषेध किया है।[20]

अनुष्ठानपरक जैन साहित्य—

अनुष्ठान सम्बन्धी विधि-विधानों को लेकर जैन परंपरा के दोनों ही सम्प्रदायों में अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं। इनमें श्वेताम्बर परंपरा में उमास्वाति का 'पूजाप्रकरण', पादलिप्तसूरि की 'निर्वाणकलिका' अपरनाम 'प्रतिष्ठा-विधि' एवं हरिभद्रसूरि का 'पंचाशकप्रकरण' प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ कहे ज.ते हैं। हरिभद्र के १९ पंचाशकों में श्रावकधर्म पंचाशक, दीक्षा पंचाशक, वंदन पंचाशक, पूजा पंचाशक (इसमें विस्तार से जिनपूजा का उल्लेख है), प्रत्याख्यान पंचाशक, स्तवन पंचाशक, जिनभवन निर्माण पंचाशक, जिनबिंब प्रतिष्ठा पंचाशक, तीर्थयात्रा विधान पंचाशक, श्रमणोपासक प्रतिमा पंचाशक, साधुधर्म पंचाशक, साधुसमाचारी पंचाशक, पिण्डविशुद्धि पंचाशक, शीलअंग पंचाशक, आलोचना पंचाशक, प्रायश्चित्त पंचाशक, दसकल्प पंचाशक, भिक्षुप्रतिमा पंचाशक, तप पंचाशक आदि हैं। प्रत्येक पंचाशक ५०-५० श्लोकों में अपने-अपने विषय का विवरण प्रस्तुत करता है। इस पर चन्द्रकुल के नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि का विवरण भी उपलब्ध है। जैन धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'अनुष्ठानविधि' है। यह धनेश्वर-

सूरि के शिष्य चन्द्रसूरि की रचना है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है तथा इसमें सम्यक्त्व आरोपणविधि एवं व्रत आरोपणविधि, षाण्मासिक सामायिक विधि, श्रावकप्रतिमावाहनविधि, उपधानविधि, प्रकरणविधि, मालाविधि, तपविधि, आराधनाविधि, प्रव्रज्याविधि उपस्थापनाविधि, केशलोचविधि, पंचप्रतिक्रमणविधि, आचार्य उपाध्याय एवं महत्तरा पद-प्रदान विधि, पोषधविधि, ध्वजरोपण-विधि, कलशरोपणविधि आदि का उल्लेख मिलता है। इस कृति के पश्चात् तिलकाचार्य का 'समाचारी' नामक कृति भी लगभग इन्हीं विषयों का विवेचन करती है। जैन कर्मकाण्डों का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थों में सोमसुन्दरसूरि का 'समाचारी शतक' जिनप्रभ-सूरि (वि० सं० १३६३) की 'विधिमार्गप्रपा', वर्धमानसूरि का 'आचार दिनकर', हर्षभूषणगणि (वि० सं० १४८०) का 'श्राद्ध-विधिविनिश्चय' तथा समयसुन्दर का 'समाचारीशतक' भी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त प्रतिष्ठाकल्प के नाम से अनेक लेखकों की कृतियाँ हैं—जिनमें भी जैन परंपरा के अनुष्ठानों की चर्चा है। दिगम्बर परंपरा में धार्मिक क्रियाकाण्डों को लेकर वसुनन्दि का 'प्रतिष्ठा-सारसंग्रह' (वि० सं० ११५०), आशाधर का 'जिनयज्ञकल्प' (सं० १२८५) एवं महाभिषेक, सुमतिसागर का 'दसलाक्षणिकव्रतो-द्यापन', सिंहनन्दी का 'व्रततिथिनिर्णय', जयसागर का 'रविव्रतोद्या-पन', ब्रह्मजिनदास का 'जम्बूद्वीपपूजन', 'अनन्तव्रतपूजन', 'मेघमालो-द्यापनपूजने' (१५ वीं शती), विश्वसेन का 'षण्वितिक्षेत्रपाल पूजन (१६ वीं शती), विद्याभूषण के 'ऋषिमण्डलपूजन', बृहत्कलिकुण्ड-पूजन' और 'सिद्धचक्रपूजन' (१७ वीं शती), बुधवीरु के 'धर्मचक्र-पूजन' एवं 'बृहद्धर्मचक्रपूजन' (१६ वीं शती), सकलकीर्ति के 'पंच-परमेष्ठीपूजन', 'षोडशकारणपूजन' एवं 'गणधरवलयपूजन' (१६ वीं शती) श्रीभूषण का 'षोडशसागारव्रतोद्यापन', नागनन्दि का 'प्रतिष्ठा-कल्प' आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं।[२१]

जैन अनुष्ठानों का दार्शनिक पक्ष—

सामान्यतः जैन परंपरा में तपप्रधान अनुष्ठानों का सम्बन्ध कर्ममल को दूरकर मनुष्य के आध्यात्मिक गुणों का विकास और पाशविक आवेगों का नियंत्रण है। जिनभक्ति और जिनपूजा सम्बन्धी

अनुष्ठानों का उद्‌देश्य भी लौकिक उपलब्धियों एवं विघ्न-बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक विकास ही है। जैन साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्वस्वरूप या जिनगुणों की उपलब्धि के लिए है। आचार्य समन्तभद्र स्पष्टरूप से कहते हैं कि हे नाथ ! चूंकि आप वीतराग हैं, अतः आप अपनी पूजा या स्तुति से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं और आप विवान्तवैर हैं इसलिए निन्दा करने पर भी आप अप्रसन्न होनेवाले नहीं हैं। आपकी स्तुति का उद्‌देश्य केवल अपने चित्तमल को दूर करना है—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातिचित्तं दुरिताऽजनेभ्यः ॥

इसी प्रकार एक गुजराती जैन कवि कहता है—

अजकुलगतकेशरि लहेरे निजपद सिंह निहाल।
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे निज आतम संभार ॥

जैन परम्परा का उद्‌घोष है—'वन्दे तद्‌गुण लब्धये' किन्तु जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्त्वतः समान है अतः वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है स्वस्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार जैन अनुष्ठान मूलतः आत्मविशुद्धि और स्वस्वरूप की उपलब्धि के लिए हैं। जैन अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है उनमें भी अधिकांशतः तो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्मा के लिए पतनकारी प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं। जिनपूजा के विविध प्रकारों में जिन पाठों का पठन किया जाता है या जो गीत आदि प्रस्तुत किये जाते हैं उनका मुख्य उद्‌देश्य आत्मविशुद्धि ही है। इस अर्थ में वैदिक परम्परा में प्रचलित अनुष्ठानों से जैन परम्परा के अनुष्ठान भिन्न हैं, वैदिक अनुष्ठानों का लक्ष्य मनुष्य जीवन की विघ्न-बाधाओं का उपशमन कर उसका ऐहिक हित साधन करना है।

यद्यपि जैन अनुष्ठानों की मूल प्रकृति अध्यात्मपरक है किन्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह धर्म के माध्यम से भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि तथा उनकी उपलब्धि में

बाधक शक्तियों के निवर्तन के लिए भी धर्म से ही अपेक्षा करता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के शमन का साधन मानता है। मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि जैन परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका उसमें विकृति आयी। जैनधर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य हैं, जो भौतिक जीवन में सुख-समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है। अतः जैन आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैनधर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिए जैनधर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें जो अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में सहायक हों। निवृत्तिप्रधान अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखनेवाले जैनधर्म के लिए यह न्याय-संगत तो नहीं था फिर भी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति विकसित हुई है।

जैनधर्म का तीर्थंकर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अतः जैन अनुष्ठानों में जिनपूजा के साथ यक्ष-यक्षियों के रूप में शासनदेवता तथा देवी की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि तीर्थंकर की अथवा अपनी उपासना से शासनदेवता (यक्ष-यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का कल्याण करते हैं। शासनरक्षक देवी-देवता के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष, आदि यक्षों, दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) को जैन परम्परा में स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिए जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ वैदिक परम्परा से ग्रहण कर लिया। भैरव पद्मावतीकल्प आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जैनपूजा और प्रतिष्ठा की विधि में वैदिक परम्परा के अनेक ऐसे तत्त्व भी जुड़ गये जो जैन परम्परा के मूलभूत मन्तव्यों से भिन्न हैं। हम यह देखते हैं कि जैन परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा भैरव, भूमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि की उपासना प्रमुख होती गई। हमें अनेक ऐसे पुरातत्त्वीय साक्ष्य मिलते हैं जिनके

अनुसार जिनमन्दिरों में इन देवियों की स्थापना होने लगी थी। जैन अनुष्ठानों का एक प्रमुख ग्रन्थ 'भैरव पद्मावतीकल्प' है, जो मुख्यतया वैयक्तिक जीवन की विघ्न-बाधाओं के उपशमन और भौतिक उपलब्धियों के विविध अनुष्ठानों का प्रतिपादन करता है। इस ग्रन्थ में वर्णित अनुष्ठानों पर जैनेतर तन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ईस्वी छठीं शती से लेकर आज तक जैन परम्परा के अनेक आचार्य भी शासनदेवियों, क्षेत्रपालों और यक्षों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं और अपने अनुयायियों को भी ऐसे अनुष्ठानों के लिए प्रेरित करते रहे हैं। जैनधर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष जो हमारे सामने आया, वह मूलत: वैदिक या ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव ही है। जिनपूजा एवं अनुष्ठान विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय उसका आह्वान और विसर्जन किया जाता है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं—यथा—

ॐ ह्रींणमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रींणमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रींणमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भवभव वषट्।
ॐ ह्रींणमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।

ये मन्त्र जैनदर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। क्योंकि जहाँ ब्राह्मण परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते है। वहाँ जैन परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थंकर न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करनें पर जा ही सकते हैं। पं० फूलचन्दजी ने 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' की भूमिका में विस्तार से इसकी चर्चा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन सम्बन्धी जैन मन्त्रों की ब्राह्मण मन्त्रों से समानता भी दिखाई है। तुलना कीजिए—

आह्वानं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥१॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥२॥

—विसर्जनपाठ ।

इनके स्थान में ब्राह्मणधर्म में ये श्लोक उपलब्ध होते हैं—

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥१॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥२॥

इसी प्रकार पंचोपचारपूजा, अष्टद्रव्यपूजा, यज्ञ का विधान, विनायकयन्त्र स्थापना, यज्ञोपवीतधारण भी जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है। इधर जब पौराणिक धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, तो पंचोपचारपूजा विधि का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इस विधि को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, जिससे पूर्व प्रचलित विधि गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वानन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य स्थान प्राप्त हुआ। पूजा के समय सामायिक या ध्यान की मूलभावना में परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथि संविभाग व्रत का अंग मान लिया गया। वह भी ब्राह्मण परम्परा की अनुकृति ही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में बोले जानेवाले मन्त्रों को निश्चय ही जैन रूप दे दिया गया है। जिस परम्परा में एक वर्ग ऐसा हो जो तीर्थंकर के कवलाहार का भी निषेध करता हो वह तीर्थंकर की सेवा में नैवेद्य अर्पित करे यह क्या सिद्धान्त की विडम्बना नहीं कही जायेगी ? मंदिर एवं जिनबिम्ब प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण अनुष्ठान ब्राह्मण परम्परा की देन हैं और उसकी मूलभूत प्रकृति के प्रतिकूल कहे जा सकते हैं। किन्तु किसी भी परम्परा के लिए अपनी सहवर्ती परम्परा से

पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिए यह स्वभाविक ही था कि जैन परम्परा की अनुष्ठान विधियों में ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव आया।

जैन परम्परा के विविध अनुष्ठान—

जैन परम्परा के विविध अनुष्ठानों में नित्यकर्म के रूप में सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षडावश्यकों के पश्चात् जिनपूजा को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। जैन परम्परा में स्थानकवासी, श्वेताम्बर, तेरापंथ तथा दिग०तारणपंथ को छोड़कर शेष परम्पराएँ जिनप्रतिमा के पूजन को श्रावक का एक आवश्यक कर्त्तव्य मानती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में पूजा सम्बन्धी जो विविध अनुष्ठान प्रचलित हैं उनमें प्रमुख है—अष्टप्रकारीपूजा, स्नात्रपूजा या जन्म-कल्याणपूजा, पंचकल्याणकपूजा, लघुशान्तिस्नात्रपूजा, बृहद्शान्ति-स्नात्रपूजा, नमिऊणपूजा, अर्हत्पूजा, सिद्धचक्रपूजा, नवपदपूजा, सत्तरहभेदीपूजा, अष्टकर्म की पूजा, अन्तरायकर्म की पूजा, भक्तामरपूजा आदि। दिगम्बर परम्परा में प्रचलित पूजा-अनुष्ठानों में अभिषेकपूजा, नित्यपूजा, देवशास्त्रगुरुपूजा, जिनचैत्यपूजा, सिद्धपूजा आदि प्रचलित हैं। इन सामान्य पूजाओं के अतिरिक्त पर्वदिनपूजा एवं विशिष्ट पूजाओं का भी उल्लेख हुआ है। पर्व-पूजाओं में षोडशकारणपूजा, पंचमेरुपूजा, दशलक्षणपूजा, रत्नत्रय-पूजा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा की पूजा पद्धति में बीसपंथ और तेरापंथ में कुछ मतभेद हैं। जहाँ बीसपंथ पुष्प आदि सचित्त द्रव्यों से जिनपूजा को स्वीकार करता है वहाँ तेरापंथ सम्प्रदाय में उसका निषेध किया गया है। पुष्प के स्थान पर वे लोग रंगीन अक्षतों या तन्दुलों का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार बीसपंथ में बैठकर और तेरापंथ में खड़े रहकर पूजा करने की परम्परा है। यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में अष्टद्रव्यों से पूजा के उल्लेख मिलते हैं। दिगम्बर ग्रंथ वरांगचरित्र (त्रयोविंशसर्ग) में जिनपूजा सम्बन्धी जो उल्लेख हैं वे श्वेताम्बर परम्परा के राजप्रश्नीय के पूजा सम्बन्धी उल्लेखों से बहुत कुछ

समानता रखते हैं। पूजा के अतिरिक्त अन्य जैन अनुष्ठानों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषणपर्व, नवपदओली, बीस स्थानक की पूजा आदि सामूहिक रूप से मनाये जानेवाले जैन अनुष्ठान हैं। उपधान नामक तप अनुष्ठान भी श्वेताम्बर परम्परा में बहुप्रचलित है। आगमों के अध्ययन के लिए भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनसंघ में मुनियों को कुछ अनुष्ठान करने होते हैं जिनको सामान्यतया 'योगवहन कहते हैं। विधिमार्गप्रपा में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, निशीथसूत्र, भगवती-सूत्र आदि अंग-आगमों के अध्ययन सम्बन्धी अनुष्ठानों का विवरण उपलब्ध है।

दिगम्बर पम्परा में प्रमुख अनुष्ठान या व्रत निम्न हैं—दशलक्षणव्रत, अष्टाह्लिकाव्रत, द्वारावलोकनव्रत, जिनमुखावलोकनव्रत, जिनपूजाव्रत, गुरुभक्ति एवं शास्त्रभक्तिव्रत, तपांजलिव्रत, मुक्तावली-व्रत, कनकावलिव्रत, एकावलिव्रत, द्विकावलिव्रत, रत्नावलीव्रत, मुकुटसप्तमीव्रत, सिंहनिष्क्रीडितव्रत, निर्दोषसप्तमीव्रत, अनन्तव्रत, षोडशकारणव्रत, ज्ञानपच्चीसीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत, रोहिणीव्रत, अक्षयनिधिव्रत, पंचपरमेष्ठीव्रत, सर्वार्थसिद्धिव्रत, धर्मचक्रव्रत, नवनिधिव्रत, कर्मचूरव्रत, सुखसम्पत्तिव्रत, ईष्टसिद्धि कारकनिःशल्यअष्टमीव्रत आदि। इनके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में पंचकल्याण बिम्बप्रतिष्ठा, वेदीप्रतिष्ठा एवं सिद्धचक्र विधान, इन्द्र-ध्वज विधान, समवसरण विधान, ढाईद्वीप विधान, त्रि-लोक विधान, बृहद् चारित्रशुद्धि विधान, महामस्तकाभिषेक आदि ऐसे प्रमुख अनुष्ठान हैं जो कि बृहद् स्तर पर मनाये जाते हैं।

मन्दिर-निर्माण तथा जिनबिम्बप्रतिष्ठा के सम्बन्ध में भी अनेक जटिल विधि-विधानों की व्यवस्था जैनसंघ में आ गयी और इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठाविधि या प्रतिष्ठाकल्प के नाम पर अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। वस्तुतः सम्पूर्ण जैन परम्परा में मृत और जीवित अनेक अनुष्ठानों की परम्परा है जिनका समग्र तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवरण तो किसी विशालकाय ग्रंथ में ही दिया जा सकता है। इस लघुकाय निबन्ध में उन सबका प्रस्तुतीकरण सम्भव नहीं है।

(२)

जैन अनुष्ठान और कला—

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है और इस कारण सामान्यतया यह समझा जाता है कि उसमें कला और विशेष रूप से कृत्यात्मककला "परफारमिंग आर्ट" को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। प्राचीन जैनागम उत्तराध्ययन में सभी गीतों को विलाप और सभी नृत्यों को विडम्बना कहकर उनकी भर्त्सना की गयी है तथा जैन श्रमण का संगीत, नृत्य और नाटक आदि में भाग लेना वर्जित है किन्तु जैनों का कला के प्रति उदासीनता का यह रूप अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि दृश्य और श्रव्य कलाएँ मानवीय जोवन का एक अविभाज्य अंग हैं और उनका पूर्ण तिरस्कार सम्भव नहीं है। यदि हम इन कलाओं मे श्रमणों और गृहस्थ उपसकों को विलग नहीं रख सकते हैं तो फिर हमें यह प्रयत्न करना ही होगा कि इन कलाओं का प्रदर्शन इस प्रकार हो कि ये भोग की प्रेरक न बनकर निर्वेद या वैराग्य की प्रेरक बनें। इस प्रकार जैनों का इन कलाओं के प्रति जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा वह यह कि उन्होंने इन कलाओं का उदात्तीकरण किया और उन्हें वैराग्य भावना और आध्यात्मिक पवित्रता का माध्यम बनाया। जैन साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जहाँ इन कलाओं को वैराग्यमूलक बनाया गया है। भगवान् ऋषभदेव के वैराग्य को प्रदीप्त करने में महत्त्वपूर्ण निमित्त कारण नीलांजना का कृत्य करते हुए देहपात हो जाना ही था। नीलांजना की यह कला हमारे सामने यह स्पष्ट कर देती है कि जैनों ने किस प्रकार इन कृत्यात्मक कलाओं को त्याग और वैराग्य के साथ जोड़ दिया है। इन कलाओं को निर्वेदमूलक बनाने के लिए यह आवश्यक था कि इनका सम्बन्ध जैन साधना की विधियों के साथ जोड़ा जाय। उन्होंने इन कलाओं को इस प्रकार से निश्चित किया कि वे धार्मिक जीवन और धार्मिक साधना पद्धति का ही एक अंग बन गयीं। यद्यपि यह सब भक्ति-मार्गी परम्परा का प्रभाव था। प्रस्तुत निबन्ध में हम मात्र यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार यह कृत्यात्मक कलाएँ

धार्मिक जीवन के विधि-विधानों या अनुष्ठानों का अंग बन गयीं। वैष्णवों की भक्ति की अवधारणा के विकास ने जैनों को भी शुष्क तप एवं ध्यान के साधना मार्ग से मोड़कर भक्ति की धारा में जोड़ दिया और जैन परम्परा में भक्ति मार्ग का विकास ही धार्मिक जीवन में इन कृत्यात्मक कलाओं के उपयोग का आधार बना। सर्वप्रथम यह अवधारणा आयी कि देवगण तीर्थंकर के समक्ष भक्तिवशात् विभिन्न मंगलगान, नृत्य एवं नाटक प्रस्तुत करते हैं। हमें श्वेताम्बर आगम राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव द्वारा महावीर के समक्ष संगीत एवं नृत्य के साथ नाटक करने की कथा मिलती है। न केवल इतना अपितु वह गौतम आदि श्रमणों के सम्मुख इन्हें प्रस्तुत करने की अनुमति भगवान् महावीर से माँगता है। महावीर मौन रहते हैं। उनके मौन को स्वीकृति का लक्षण मानकर वह इनका प्रदर्शन करता है। टीकाकारों ने महावीर के मौन का कारण श्रमणों के स्वाध्याय आदि में बाधा बताया है। वस्तुतः यह कथानक आगम में रखने और उसके सम्बन्ध में महावीर का मौन दिखाने का उद्देश्य इन कलाओं की धार्मिक साधना के क्षेत्र में दबी जबान से स्वीकृति करना था।

जैनों के धार्मिक विधि-विधानों के रूप में स्तवन की स्वीकृति थी ही। इसी को भक्ति भावना के प्रदर्शन का आधार बनाकर पहले देवों के द्वारा इनके प्रदर्शन का अनुमोदन हुआ फिर गृहस्थों के द्वारा भी इनको किये जाने का अनुमोदन हुआ तथा गौतम आदि श्रमणों के माध्यम से यह बताया गया कि श्रमणों के लिए ऐसे नृत्य, संगीत के भक्ति कार्यक्रमों में उपस्थित रहना वर्जित नहीं है।

इस प्रकार तीर्थंकरों के प्रति भक्तिभाव के प्रदर्शन के रूप में नृत्य, संगीत और नाटक तीनों जैन अनुष्ठानों के साथ जुड़ गये। सर्वप्रथम स्तवन के रूप में सस्वर भक्ति-स्तोत्रों का गान प्रारम्भ हुआ और संगीत का सम्बन्ध जैन उपासना की पद्धति के साथ जुड़ा। जैन श्रमण एवं गृहस्थ उपासक भक्ति रस में डूबने लगे। फिर यह विचार स्वाभाविक रूप से सामने आया होगा कि जब देवगण नृत्य, संगीत और नाटक के द्वारा प्रभु की भक्ति कर सकते

हैं तो कम से कम गृहस्थ उपासक को भी इस प्रकार से भक्ति करने का अवसर मिलना चाहिए। अतः जैन प्रतिमाओं के समक्ष न केवल वैराग्य प्रधान संगीत की स्वर लहरियाँ गुंजित होने लगीं, अपितु नृत्य और नाटक भी उसके साथ जुड़ गये। हमें साहित्यिक और पुरातात्त्विक ऐसे अनेक साक्ष्य मिलते हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में ही नृत्य संगीत और नाटक जैन धार्मिक विधि-विधानों के अंग बन चुके थे।

तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक के अवसर पर देवी-देवताओं के द्वारा संगीत, नृत्य और नाटक करने के उल्लेख कल्पसूत्र आदि प्राचीन ग्रंथों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। न केवल देवी-देवताओं के द्वारा, अपितु तीर्थंकर के पारिवारिक जन भी उनके जन्म आदि के अवसर पर नृत्य, संगीत आदि का आयोजन करते थे, ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यह प्रचलित लोक व्यवहार ही जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठान का अंग बन गया। जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि जैन धार्मिक अनुष्ठानों में जिन षडावश्यकों की प्रतिष्ठा है उनमें एक आवश्यक कृत्य स्तवन भी है। तीर्थंकरों की स्तुति को धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग मान ही लिया गया था अतः इस स्तुति के साथ ही संगीत को जैन साधना में स्थान मिल गया। भक्तिरस से परिपूर्ण स्तवन पूजा तथा प्रतिक्रमण में गाये जाने लगे। आज भी जैनधर्म की सभी परम्पराओं में विभिन्न धार्मिक विधि-विधानों के अवसर पर भक्ति गीतों के गाये जाने का प्रचलन है। मुख्यरूप से भक्ति गीत जिनपूजा के अवसर पर तथा प्रातःकालीन एवं सायंकालीन प्रतिक्रमणों के पश्चात् गाये जाते हैं। अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों में जहाँ जिन प्रतिमा की पूजा परम्परा नहीं है वहाँ भी प्रातःकालीन एवं सायंकालीन प्रतिक्रमणों के पश्चात् तथा प्रार्थना और सामायिक में भक्ति गीतों के गाने की परम्परा मिलती है। न केवल इतना ही हुआ अपितु जैन मुनियों के प्रवचन में भी संगीत का तत्त्व जुड़ गया है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान समय तक जैन आचार्यों ने अनेक काव्य एवं गीत लिखे हैं और ये काव्य एवं गीत अक्सर मुनियों के प्रवचनों में गेय रूप से

प्रस्तुत किये जाते हैं। आज भी प्रवचनों में विशेषरूप से अमूर्तिपूजक परम्परा के साधुओं के प्रवचन में ढाल, चौपाई आदि के रूप में गाकर प्रवचन देने की परम्परा उपलब्ध होती है। मूर्तिपूजक सम्प्रदायों में विविध प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हैं और ये सभी पूजाएँ गेय रूप में ही पढ़ी जाती हैं। इसी प्रकार जिनप्रतिमा की प्रातःकालीन एवं सायंकालीन आरती के अवसर पर भी भक्ति गीतों के गाने की परम्परा है। इस प्रकार संगीत जैन धार्मिक अनुष्ठानों का एक आवश्यक अंग बन गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के जैन आचार्यों ने लगभग चौदहवीं शताब्दी में संगीत समयसार, संगीतोपनिषदसारोद्धार आदि संगीत के ग्रंथों की रचना भी की है।

जिनभक्ति के रूप में संगीत की स्वीकृति का आगमिक आधार राजप्रश्नीय सूत्र है। उसमें सूर्याभदेव के द्वारा भगवान महावीर एवं अन्य श्रमणों के सम्मुख विविध राग-रागनियों एवं विविध वाद्यों के साथ संगीत एवं नाटक प्रस्तुत किये जाने के उल्लेख हैं। वस्तुतः राजप्रश्नीय का यह स्थल लाक्षणिक रूप से इस बात का संकेत करता है कि उसके रचनाकाल तक जैन मुनियों के लिए धार्मिक गीतों का गाना और सुनना वर्जित नहीं रह गया था। परिणामतः चैत्यवास के विकास के साथ जैन परम्परा में जैन मुनियों ने संगीत कला को प्रश्रय देना प्रारम्भ किया, जिसकी आलोचना सम्बोधप्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने की है। वैराग्य की साधना में संगीत का क्या स्थान होना चाहिए यह एक विवादास्पद प्रश्न है किन्तु इतना निश्चित है कि मनुष्य को तनावों से मुक्त करने और अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने में संगीत का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कृत्यसाध्य कलाओं में नृत्य और नाटक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतया नाटक लोकजीवन का एक अंग प्राचीनकाल से रहा है। अतः धार्मिक कृत्य के रूप में न सही किन्तु लोक व्यवहार के रूप में नाटक की परम्परा के साथ प्राचीनकाल से जुड़ी हुई है। सर्वप्रथम तो तीर्थंकर के जन्मोत्सव आदि मांगलिक अवसरों पर देवी-देवताओं के द्वारा तथा सामान्य जनों के द्वारा नाटक किये

जाने के उल्लेख श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य एवं दिगम्बर जैन पुराणसाहित्य में उपलब्ध होते हैं। सूर्याभदेव के द्वारा भगवान् महावीर के सम्मुख नृत्य एवं नाटक किये जाने का उल्लेख हमें राजप्रश्नीय में उपलब्ध होता है। वस्तुतः देवता तीर्थंकरों के सम्मुख नाटक करते हैं यह बात नाटक को धार्मिक जीवन का एक अंग बनाने की दृष्टि से ही प्रचलित हुई होगी क्योंकि इसी आधार पर कहा जा सकता है कि देवता जब तीर्थंकरों के सम्मुख नृत्य-नाटक आदि कर सकते हैं तो गृहस्थजनों को भी जिनप्रतिमा के सम्मुख नृत्य, नाटक आदि करके अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करना चाहिए। जैन परम्परा में धार्मिक जीवन के अंग के रूप में नृत्य एवं नाटक की परम्परा के मुख्य तीन उद्देश्य थे—१–तीर्थंकरों के प्रति अपनी भक्तिभावना का प्रदर्शन करना। २–ऐसे रुचिकर कार्यक्रमों के द्वारा लोगों को धार्मिक क्रियाकलापों में आकर्षित करना और ३–उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना। इस आधार पर जैन नाटकों का भक्ति और वैराग्य प्रधान रूप विकसित हुआ। हमें ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि इस प्रकार के नाटक पर्याप्त प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में मंचित भी किये जाते थे।

जैन पुराणों के आधार पर यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है कि तीर्थंकर अपने व्यावहारिक जीवन में नृत्य आदि देखते थे। यद्यपि पुराणों में तीर्थंकरों के द्वारा अपने गृहस्थ जीवन में नृत्य आदि में भाग लेने के उल्लेख मिलते हैं किन्तु इससे हम नृत्य एवं नाटक को धार्मिक साधना का एक अंग नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः नृत्य एवं नाटक जैनों के धार्मिक जीवन का अंग तभी बने जब जैन-धर्म अपने निवृत्तिमूलक तपस्या प्रधान स्वरूप को छोड़कर भक्ति-प्रधान धर्ममार्ग के रूप में विकसित हुआ। जैन कर्मकाण्डों के साथ नृत्य नाटक का सम्बन्ध जिन के प्रति भक्तिभावना के प्रदर्शन के रूप में ही हुआ है। जिनप्रतिमाओं के सम्मुख नृत्य करने की यह परंपरा भी वर्तमान में जीवित है। विशेष रूप से पूजा और आरती के अवसरों पर भक्त-मण्डली के द्वारा जिनप्रतिमा के सम्मुख नृत्य का प्रदर्शन आज भी किया जाता है। आज भी जिनमन्दिर संगीत, नृत्य और नाट्यकला के प्रदर्शन केन्द्र बने हुए हैं। यद्यपि जैन

परंपरा में संगीत और नृत्य दोनों का उद्देश्य जिन के प्रति भक्ति-भावना का प्रदर्शन ही है मनोरंजन नहीं। इसी उद्देश्य को लेकर जैन कथानकों के आधार पर जैन आचार्यों ने मंचन योग्य अनेक नाटक लिखे हैं। आज भी विशिष्ट महोत्सवों एवं पंचकल्याणकों के अवसर पर जैन नाटकों का मंचन होता है। राजप्रश्नीय में संगीत-कला, वादनकला, नृत्यकला और अभिनयकला का एक विकसित रूप हमें मिलता है जो किसी भी स्थिति में ईसा की छठीं-सातवीं शती से परवर्ती नहीं है जिसकी संक्षिप्त झांकी नीचे प्रस्तुत है :—

"सूर्याभदेव ने हर्षित चित्त से महावीर को वन्दन कर निवेदन किया कि हे भदन्त ! मैं आपकी भक्तिवश गौतम आदि निर्ग्रन्थों के सम्मुख इस दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देवद्युति एवं दिव्य देवप्रभाव तथा बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि को प्रस्तुत करना चाहता हूं। सूर्याभदेव के इस निवेदन पर भगवान् महावीर ने उसके कथन का न आदर ही किया और न उसकी अनुमोदना ही की अपितु मौन रहे। तब सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर से दो तीन बार पुनः इसी प्रकार निवेदन किया और ऐसा कहकर उसने भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशा में गया। वैक्रियसमुद्घात करके बहुसमरणीय भूमिभाग की रचना की जो समतल यावत् रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले मणियों में सुशोभित था। उस सम तथा रमणीय भूमि के मध्यभाग में एक प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) की रचना की, जो सैकड़ों स्तम्भों पर सन्निविष्ट था। उस प्रेक्षागृह के अन्दर रमणीय भूभाग, चन्दोवा, रंगमंच तथा मणि-पीठिका की रचना की और फिर उसने उस मणिपीठिका के ऊपर पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिंहासन की रचना की, जिसका ऊर्ध्व-भाग मुक्तादामों से सुशोभित हो रहा था। तब सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर को प्रणाम किया और कहा हे भगवन् ! मुझे आज्ञा दीजिए ऐसा कहकर तीर्थंकर की ओर मुख कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया। नाट्यविधि प्रारम्भ करने के लिए उसने श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त अपनी दाहिनी भुजा को लम्बवत् फैलाया, जिससे एकसौ आठ देवकुमार निकले। वे देवकुमार युवोचित गुणों से युक्त नृत्य के लिए तत्पर तथा स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित थे। तदनन्तर सूर्याभदेव ने

विभिन्न आभूषणों से युक्त बायीं भुजा को लम्बवत् फैलाया। उस भुजा से एकसौ आठ देवकुमारियाँ निकलीं, जो अत्यन्त रूपवती, स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित तथा नृत्य के लिए तत्पर थीं। तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने एक सौ आठ शंखों और एक सौ आठ शंखवादकों की, एक सौ आठ शृंगों-रणसिगों और उनके एक सौ आठ वादकों की, एक सौ शंखिकाओं और उनके एक सौ आठ वादकों आदि उनसठ वाद्यों और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इसके बाद सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों को बुलाया। वे हर्षित हो उसके पास आये और वन्दनकर विनयपूर्वक निवेदन किया—हे देवानुप्रिय ! हमें जो करना है उसकी आज्ञा दीजिए। तब सूर्याभ-देव ने उनसे कहा—हे देवानुप्रियों। तुम सब भगवान् महावीर के पास जाओ, उनकी प्रदक्षिणा करो, उन्हें वन्दन-नमस्कार करो और फिर गौतमादि निर्ग्रन्थों के समक्ष बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्य-विधि प्रदर्शित करो तथा नाट्यविधि प्रदर्शन कर शीघ्र ही मेरी आज्ञा मुझे वापस करो। तदनन्तर सभी देवकुमारों एवं देवकुमारियों ने सूर्याभदेव की आज्ञा को स्वीकार किया और भगवान् महावीर के पास गये। भगवान् महावीर को प्रणाम कर गौतमादि निर्ग्रन्थों के पास आये। वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ पंक्तिबद्ध हो एक साथ मिले। मिलकर सभी एक साथ झुके, फिर एक साथ ही अपने मस्तक को ऊपर कर सीधे खड़े हुए। इसी क्रम में तीन बार झुककर सीधे खड़े हुए और फिर एक साथ अलग-अलग फैल गये। यथायोग्य उपकरणों-वाद्यों को लेकर एक साथ बजाने लगे, गाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने गाने को पहले मन्द स्वर से फिर अपेक्षा-कृत उच्च स्वर से और फिर उच्चतर स्वर से गाया। इस तरह उनका वह त्रिस्थान गान त्रिसमय रेचक से रचित था। गुंजारव से युक्त था। रागयुक्त था। त्रिस्थानकरण से शुद्ध था। गूंजती वंशी और वीणा के स्वरों से मिला हुआ था। करतल, ताल, लय आदि से मिला हुआ था। मधुर था। सरस था। सलिल तथा मनोहर था। मृदुल पादसंचारों से युक्त था। सुननेवालों को प्रीतिदायक था। शोभन समाप्ति से युक्त था। इस मधुर संगीत गान के साथ-साथ वादक अपने-अपने वाद्यों को भी बजा रहे थे। इस प्रकार वह दिव्य

वादन एवं दिव्य नृत्य आश्चर्यकारी होने से अद्भुत तथा दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था। दर्शकों के कहकहों से नाट्यशाला को गुंजायमान कर रहा था।

तत्पश्चात् नृत्य-क्रीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और देवकुमारिकाओं ने भगवान् महावीर एवं गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों आदि के समक्ष स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण इन आठ मंगलद्रव्यों का आकार रूप दिव्य नाट्याभिनय दिखलाया। तत्पश्चात् दूसरी नाट्यविधि प्रस्तुत करने के लिए वे एकत्रित हुए एवं उन्होंने भगवान् महावीर एवं गौतम आदि निर्ग्रन्थों के समक्ष आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता और पद्मलता के आकार की नाट्यविधि दिखलायी। उसके पश्चात् उन सभी ने भगवान् महावीर के समक्ष ईहामृग, वृषभ, तुरंग-अश्व, नर-मानव, मगर, विहग-पक्षी, व्यालसर्प, किन्नर, रुरु, सरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृति रूप दिव्य नाट्यविधि को प्रस्तुत किया। तदनन्तर उन्होंने एकतोवक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विघातश्चक्रवाल ऐसी चक्रार्ध-चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसी क्रम से उन्होंने चन्द्रावली, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि की विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया। तत्पश्चात् उन्होंने चन्द्रमा और सूर्य के उदय होने की रचनावली उद्गमनोद्गमन नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। उसके पश्चात् चन्द्र-सूर्य आगमन नाट्यविधि अभिनीत की। तदनन्तर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर गगन मण्डल में होने वाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। उसके पश्चात् चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गन्धर्वमण्डल की रचना से युक्त दर्शक मण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसके पश्चात् वृषभमण्डल, सिंहमण्डल की ललित गति अश्व गति आदिगति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बित प्रवि-

भक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद सागर, नागर, प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि अभिनीत की। तत्पश्चात् नन्दा, चम्पा, प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् मत्स्याण्ड-मकराण्ड-जार-मार प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। तदनन्तर उन्होंने 'क' अक्षर की आकृति की रचना करके ककार प्रविभक्ति इसी प्रकार ककार से लेकर पकार पर्यन्त पाँच वर्गों के २५ अक्षरों के आकार का अभिनय प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् पल्लव प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की और इसके बाद उन्होंने नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, श्यामलता की सुरचना वाली लता प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अंचित, रिभित, अंचितरिभित, आरभट, भसोल और आरभट-भसोल नामक नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया। इन प्रदर्शनों के पश्चात् वे सभी एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा भगवान् महावीर के पूर्व भवों से सम्बन्धित चरित्र से निबद्ध एवं वर्तमान जीवन सम्बन्धी च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्रनिबद्ध, जन्मचरित्र-निबद्ध, जन्माभिषेक, बालक्रीड़ानिबद्ध, यौवन-चरित्रनिबद्ध, अभि-निष्क्रमण-चरित्रनिबद्ध, तपश्चरण-चरित्रनिबद्ध, ज्ञानोत्पाद-चरित्र-निबद्ध, तीर्थ-प्रवर्तन चरित्र से सम्बन्धित, परिनिर्वाण चरित्रनिबद्ध तथा चरम चरित्रनिबद्ध नामक अन्तिम दिव्य नाट्य अभिनय का प्रदर्शन किया।"[22]

धार्मिक नाटकों, जिनका एक अंग नृत्य भी था—के मंचन की परम्परा आज भी जैनधर्म में जीवित रूप से पायी जाती है। विगत शताब्दी में श्रीपाल मैना सुन्दरी नाटक के मंचन के लिए एक पूरा समुदाय ही था जो स्थान-स्थान पर जाकर इस एवं अन्य भक्ति-प्रधान नाटकों को मंचित करता और उसी के सहारे अपनी जीवन-वृत्ति चलाता था। आज भी जैनों के धार्मिक समारोहों के अवसर पर जैन परम्परा के कथानकों से सम्बद्ध नाटकों का मंचन किया जाता है। अतः संगीत, नृत्य एवं नाटक एक जीवित परम्परा के रूप में आज भी जैन परम्परा के साथ जुड़े हुए हैं।

———

सन्दर्भ-सूची

१. उत्तराध्ययन १२।४२, ४४, ४६
२. अंगुत्तरनिकाय—सुत्तनिपात—उद्धृत भगवान् बुद्ध, पृ० २२६
३. गीता ४।३३, ४।२६-२८
४. आचारांग—प्रथम श्रुतस्कन्ध, उपधानश्रुत
५. उत्तराध्ययन, अध्याय ३० ।
६. अन्तकृद्दशांग वर्ग ८ का काली आदि दस रानियों का तपस्या वर्णन ।
७. उत्तराध्ययन, अध्याय २६ ।
८. अनुयोगद्वारसूत्र में षडावश्यक गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए आवश्यक हैं ।
९. उपासकदशांग, अध्याय ६।१६६ ।
१०. अंगुत्तरनिकाय ३।७० ।
११. भगवतीसूत्र
१२. अंगुत्तरनिकाय ३।७०, ३।३७ ।
१३. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्याय ६ ।
१४. राजप्रश्नीय १९९ ।
१५. उपासकदशांग १२ ।
१६. प्रो० ढाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर ।
१७. भारतीय संस्कृति के विकास में जैनवाङ्मय का अवदान (प्रथम खण्ड)—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, देखें पुष्प कर्म तथा देवपूजा : विकास और विधि, पृ० ३८६ से ३८९ ।
१८. राजप्रश्नीय २०० ।
१९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५, पृ० ।
२०. सम्बोध प्रकरण, गुर्वधिकार ।
२१. जैन साहित्य का इतिहास भाग ५ ।
२२. राजप्रश्नीय ७२-१०६ ।

जैन श्रमण साधना : एक परिचय

डा० सुभाष कोठारी

"साधना" को जैन दर्शन में मोक्ष-मार्ग कहा है, जैनेतर दर्शन में "योग" व जन साधारण की भाषा में सदा "आचरण" कहा जाता है। यहाँ साधना का सामान्य अर्थ "इन्द्रिय-निग्रह" है,[1] अर्थात् मन, वचन व काया पर पूर्ण संयम रखना।

जैन-साधना का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व हो जाता है क्योंकि वह साधना करने वाले के पुरुषार्थ और बल पर ही आत्म-सिद्धि को निर्भर मानती है। चिरशान्ति की प्राप्ति के लिए एक मात्र साधन, साधना ही है और इसी से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। ज्यों-ज्यों साधक साधना की उत्तरोत्तर गहनता में उतरता है, त्यों-त्यों उसके मोह का बंधन टूटता जाता है एवं वह मुक्ति की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

साधना का वर्गीकरण :

जैन साधना में धर्म के दो रूप माने गये हैं—एक श्रुतधर्म और दूसरा चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नव तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा होना। चारित्रधर्म का अर्थ संयम एवं तप है।[2] साधु व श्रावक के आचार के अन्तर का आधार केवल चारित्र ही है। श्रमण की साधना उत्कृष्ट एवं कठोर होती है परन्तु श्रावक की साधना उतनी उत्कृष्ट व कठोर नहीं होती है। श्रमण तो सांसारिक प्रपंचों से अलग-थलग रहकर आरम्भ, परिग्रह से मुक्त होकर साधना करता है, परन्तु श्रावक घर के प्रपंचमय जीवन में रहकर ही साधना करता है।

---

१. पटेरिया, एम० पी०, जैन साधना पद्धति : एक विश्लेषण—श्री अम्बागुरु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० : ३३९

२. जैन, डॉ० सागरमल—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० : २५७ प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।

मुनि साधना :

जैन धर्म में मुनि साधना का सामान्य अर्थ साधु या श्रमण के आचार से है। श्रमण-आचार शब्द आते ही सर्वप्रथम हमारा ध्यान पाँच मूल व्रतों की ओर आकृष्ट हो जाता है। जैन साधना पद्धति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह, ये पाँच मूल व्रत माने गये हैं, जिन्हें सम्पूर्ण रूप से अर्थात् मन, वचन, काय व कृत कारित एवं अनुमोदित इन नौ कोटियों सहित पालन करने को महाव्रत संज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाइस परिषह, दस समाचारी, बावन अनाचार त्याग आदि भी श्रमण साधना के अनिवार्य अंग हैं। इन सभी का हम इस शोध-लेख में क्रमानुसार वर्णन कर रहे हैं :

पाँच महाव्रत :

श्रमणों को मुख्य रूप से आचार की नींव के रूप में अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करना होता है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. **अहिंसा**—साधु सर्व प्रकार की, त्रस व स्थावर जीवों की, हिंसा का त्याग करता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि साधु जन, जग में रहे हुए समस्त प्राणियों की जानबूझ कर एवं अनजान में मन, वचन, काय द्वारा न हिंसा करें, न करवायें और न करते हुए की अनुमोदना ही करें।[1] व्रतों की सुदृढ़ता के लिए आचारांग-सूत्र में त्रस और स्थावर, सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों की तीन करण, तीन योग से हिंसा न करने को अहिंसा महाव्रत कहकर इसकी पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, वे क्रमशः ईर्या समिति, वचन समिति, मन समिति, एषणा समिति व निक्षेपणा समिति के रूप में हैं।[2] ईर्या समिति का

---

१. 'जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा
ते जाणमजाणं वा, नहणे णा वि धायए'' —दशवैकालिकसूत्र ६।१०

२. पढमं भंते। महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुम वा बायर वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा ३ जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि'

—आचारांगसूत्र-मुनि आत्माराम पृ० १४१८

अर्थ चलते-फिरते समय अज्ञान व असावधानीवश किसी जीवन की विराधना न हो, किया गया है। वचन समिति के अनुसार बोलते समय ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करें जो दूसरों को कष्ट उत्पन्न करे। मन: भावना का अर्थ मन में विभिन्न प्रकार के विध्वंसात्मक विचारों को स्थान नहीं देना है। एषणा समिति से शरीर को धर्म-ध्यान के हेतु चलाने के लिए निर्दोष आहार की प्राप्ति माना है। निक्षेपणा का बोध दैनिक जीवन के कार्यकलापों को चलाने के लिए जो आवश्यक उपकरणादि रखे जाते हैं, उन पर ममत्व नहीं रखते हुए उसका सावधानीपूर्वक उपयोग करना होता है। इन पाँच भावनाओं से श्रमण को अहिंसाणुव्रत-पालन करने में संबल मिलता है।

२. **सत्य**—श्रमण द्वारा असत्य का पूर्ण रूप से त्याग करना सत्य महाव्रत कहलाता है। इसमें असत्य का मन, वचन, काय द्वारा, कृत कारित, अनुमोदित आदि नौ प्रकार से त्याग किया जाता है। उत्तराध्ययनटीका में कहा गया है कि जिस शब्द के प्रयोग से जन-जन का हित होता हो, वह सत्य है।[1] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो भाषा सत्य है, किन्तु अप्रिय या अहितकारी है, वह भाषा सत्यासत्य मृषा-मिश्र है व जो भाषा मृषा है, इनको बोलना योग्य नहीं है।[2] आचारांगसूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि साधु हँसी-मजाक का भी परित्याग करें,[3] वह अपने अन्दर में ऐसे संस्कार जागृत करे जिससे उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष एवं यथार्थ हो।

सत्य की नींव मजबूत करने के लिए जैनाचार्यों ने पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है। आचारांगसूत्र, समवायांगसूत्र एवं प्रश्न-व्याकरणसूत्र में पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन है। आचारांग में निम्न पाँच भावनाएँ बताई गई हैं :[4]

१. 'सदभ्यो हितसत्यम्'—उत्तराध्ययनटीका-आचार्य शान्तिसूरि

२. 'जाय सच्चा अवत्तव्वा. सच्चामोसा य जा मुसा
जा य बुद्धेहि नाइन्ना, न तं भासिज्जा पन्नवं'
—दशवैकालिकसूत्र ७।२

३. आचारांगसूत्र–मुनि आत्माराम, पृ० १४२८-२९

४. वही, पृ० १४३०-३१

१. अनुवीचिभाषण भावना—हित-अहित का ध्यान रखे बिना बोलना। इसमें झूठ के आजाने का संशय रहता है।

२. क्रोधप्रत्याख्यान भावना—क्रोध में व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है और इस समय असत्य भाषण की सम्भावना रहती है। अतः क्रोध का त्याग करके बोलना चाहिए।

३. लोभप्रत्याख्यान भावना—लोभ का त्याग करना जरूरी है क्योंकि लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति असत्य भाषण कर सकता है।

४. भयप्रत्याख्यान भावना—भय से युक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए झूठ बोल देता है, अतः मुनि को पूर्णतः भयमुक्त रहना चाहिए।

५. हास्यप्रत्याख्यान भावना—हास्यवंश साधु असत्यभाषण कर सकता है, अतः मुनि हँसी-मजाक का त्याग करें। हँसी-मजाक से जीवन की गम्भीरता में कमी तो आती ही है, सभ्य लोगों की दृष्टि से वह तुच्छ सा लगता है।

३. **अचौर्य**—मुनि को गृहस्थ की आज्ञा के बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए। आचारांगसूत्र में कहा गया है—"कोई भी पदार्थ चाहे वह ग्राम में, नगर में, अरण्य में, अटवी में पड़ा हो, वह स्वल्प हो, बहुत हो, स्थूल हो, सचित्त अथवा अचित्त हो; मन, वचन, काय से न ग्रहण करना, न दूसरों से करवाना, न करते हुए का अनुमोदन करना अचौर्यमहाव्रत कहलाता है। दशवैकालिकसूत्र में भी यही स्वरूप वर्णित है।[२]

चोरी व्यक्ति को पतन की राह पर ले जाती है। साधना में रत व्यक्ति ऐसे कार्य करने से संकल्प-विकल्पों में उलझकर अपनी शांति खो देता है। अतः अचौर्य महाव्रती साधक को कभी भी अदत्तग्रहण नहीं करना चाहिए। अदत्तादान महाव्रत की पाँच भावनाएँ इसे पुष्ट

---

१. आचारांगसूत्र–मुनि आत्माराम पृ० १४३५-३६
२. दशवैकालिकसूत्र ६।१४-१५

करने के लिये बताई गई हैं। आचारांगसूत्र व प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी इन भावनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।[1]

१. विविक्तवाससमिति भावना—जो विचारपूर्वक ही अवग्रह की याचना करता है।

२. अनुज्ञातसंस्तारक ग्रहणरूप अवग्रहसमिति भावना—गुरुजनों की आज्ञा लेकर आहार-पानी करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक वस्तु ग्रहण करते समय गुरु की आज्ञा लेनी चाहिये।

३. शय्यासंस्तारक परिकर्मवर्जनारूप शय्यासमिति भावना--निर्ग्रन्थ साधु क्षेत्र व काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वस्तु ग्रहण करने वाला होना चाहिये।

४. अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना—आवास व शय्या के साथ ही भोजन की भी जरूरत होती है, उसे निश्चित मात्रा में ग्रहण करना चाहिये। बार-बार आज्ञा लेने वाला होना चाहिये। इस तरह साधु अपनी आवश्यकतानुसार कल्पनीय वस्तु को ग्रहण करें। जितनी बार वस्तु की आवश्यकता हो उतनी बार गुरु की आज्ञा लेकर विवेक-पूर्वक विचार कर ग्रहण करें।

५. सार्धमिक विनयकरण भावना--समान धर्म व आचरण वाले की वस्तु लेने पर, उस सार्धमिक की (यानि जिससे वस्तु ली है) आज्ञा लेना चाहिये।

४. **ब्रह्मचर्य**—तीन करण तीन योग से मैथुन का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि देव, मनुष्य, तिर्यञ्च संबंधी सर्व प्रकार के मैथुन का तीन करण, तीन योग से त्याग ब्रह्मचर्य है।[2] सूत्रकृतांगसूत्रवृत्ति में सत्य, भूतदया, इन्द्रिय-निरोध-रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य कहा है।[3] इस प्रकार जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसी से व्यक्ति

---

१. (क) आचारांगसूत्र—मुनि आत्माराम पृ० १४३७-३९
   (ख) प्रश्नव्याकरणसूत्र—संवरद्वार, अध्ययन ८

२. आचारांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृ० १४४४

३. शास्त्री, देवमुनि—जैन आचार, सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ८३१

के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। ब्रह्मचर्य को पुष्ट करने के लिये एवं जीवन में व्रतों की सुरक्षा के लिये सदैव जागृत रहकर साधना करने के लिए भावनाओं का विधान किया गया है। आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्य की निम्न पाँच भावनाएँ बतलाई गई हैं[१] :—

१. स्त्रियों की कामविषय कथा नहीं करना—इससे विकारी भावना जागृत होती है। साधना के विपरीत मनःस्थिति पैदा हो जाती है, इसलिए साधक को इससे बचना चाहिए।

२. विकार दृष्टि से स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों को नहीं देखना चाहिए।

३. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना व शृंगार रस से युक्त वासना को उद्दीप्त करने वाले साहित्य को नहीं पढ़ना चाहिए।

४. अधिक मात्रा में व सरस आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। शारीरिक रूप से जितनी मात्रा में आवश्यकता हो, उससे अधिक नहीं खाना व जहाँ तक हो सके क्षुधा से भी कम व निरस आहार का सेवन करना चाहिए।

५. स्त्री, पशु व नपुंसक से युक्त स्थान में रात को नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इनके संसर्ग में रहने से मन में विकारों को स्थान मिलता है और व्यक्ति का मन आत्म-कल्याण से विमुख हो जाता है।

५. **अपरिग्रह**—साधु द्वारा समस्त नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों व चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करना अपरिग्रह है। भूमि, भवन, रजत, स्वर्ण-सम्पत्ति, धान्य, दास-दासी पशु व घर-गृहस्थी का सामान बाह्य परिग्रह हैं[२] एवं मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसवेद, क्रोध, मान, माया, लोभ ये आन्तरिक परिग्रह हैं।[३] आचारांगसूत्र

---

१. आचारांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृ० १४४५-४६

२. 'खेत्तं वत्थूं धण-संचओ मित्तणाइ संजोगो
जाण सयणासयाणि य दासी-दास च कुव्वयं च'

—बृहत्कल्पभाष्य २८५

३. 'कोहो माणो, माया लोभो पेज्जं तहेव दो स अ
मिच्छत्त वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय-दुगंछा'

—बृहत्कल्पभाष्य ८३१

में अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त व अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को मन, वचन, काय से न ग्रहण करना, न ग्रहण करवाना और न ही ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करना, अपरिग्रह व्रत माना गया है।[1] इस प्रकार वस्त्र, पात्र के साथ-साथ शरीर व साधना के प्रति ममत्व नहीं हो, यह ही महाव्रती का सच्चा लक्षण है। अपरिग्रह को मजबूत करने के लिए पाँच भावनाओं का विधान किया गया है:—

१- प्रिय प अप्रिय शब्द—कान में पड़े प्रिय या अप्रिय शब्दों के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

२- रूप—आँखों के सामने आने वाले मधुर, सुन्दर एवं विकृत रूप को देखकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

३- गन्ध—वायु के साथ आने वाली दुर्गन्ध व सुगन्ध के समय भी समभाव से रहना चाहिए।

४- रस—आहार के प्रसंग में स्वादिष्ट व निरस जैसा भी आहार मिले उसे समभाव पूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

५- स्पर्श—गर्मी, सर्दी, वर्षा में अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों के होने पर भी साधु को साधना में लीन रहना चाहिए।[२]

इस तरह पाँच महाव्रत और उसकी पच्चीस भावनाओं का सम्यक् रूप से पालन करना ही श्रमण का मूल ध्येय होता है। इसके पालन से ही वह आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होता है, एवं जनता के लिए मार्ग-दर्शन व प्रेरणास्रोत बन जाता है।

इन पाँच महाव्रतों की रक्षा व परिपुष्टता के लिए जैनाचार्यों ने पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप अष्टप्रवचन माता का भी प्रतिपादन किया है।

पांच समिति :

प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिए एकाग्रतापूर्वक

१. आचारांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृ० १४५४
२. वही पृ० १४५५-५७

की जाने वाली सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में समितियों के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं: ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, भण्ड-निक्षेपण, उच्चारादि प्रतिस्थापना।[2]

१—**ईर्या समिति**—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आलम्बन लेकर, विवेकयुक्त होकर गमनागमन करना ईर्या समिति है। इसमें साधु को गमनागमन दिन में ही करना चाहिए, रात्रि में नहीं, क्योंकि रात्रि में हिंसा की संभावनाएं ज्यादा रहती हैं। ईर्या समिति के सम्यक् परिपालन के लिए आलम्बन, काल, मार्ग व यतना का होना आवश्यक है यथा—

क- ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पालन से साधक मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

ख- इसका पालन दिन में होता है, रात्रि में नहीं। अपवाद मार्ग की बात और है।

ग- साधक को वन, विषममार्ग व चोर-उचक्कों से युक्त मार्ग पर नहीं चलना चाहिए तथा वेश्यालय, अन्तःपुर व सेनाशिविर के पास भी नहीं चलना चाहिए क्योंकि इससे मन में विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

घ- चलते समय उचित विवेक रखा जाना चाहिए, संभ्रान्त व मंथर गति से हास्य व चंचलता रहित होकर गमन करना साधु के लिए कल्पनीय है।

२. **भाषा समिति**—श्रमण द्वारा अपनी वाणी पर संयम रखना ही भाषा समिति है। श्रमण द्वारा सदैव सत्य, प्रिय व निर्दोष वचन बोले जाने चाहिए। इससे सत्य महाव्रत पुष्ट होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा इन दोषों से

---

१. 'सम-एकीभावेन, इतिः प्रवृत्तिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणाम-चेष्टेत्यर्थः'
—प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति

२. 'इरिया-भासे-सणादाणे, उच्चारे समिईइय
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा' —उत्तराध्ययनसूत्र २४।२

अपने को विलग रखकर आवश्यकता होने पर भाषण करना चाहिए।[1]

३. **एषणा समिति**—एषणा का अर्थ चाह से होता है। साधु जीवन का पालन करने व संयम-निर्वाह करने के लिए आहार की आवश्यकता होती है, रहने के लिए स्थान की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति संयमित रूप से किस प्रकार हो, यह ध्यान रखना ही एषणा समिति है जैसे गाय चारा चरते समय ऊपर-ऊपर से घास खा जाती है, उसकी जड़ों को नहीं खाती, उसी प्रकार साधु को गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेना चाहिए। जिससे गृहस्थ को नये आहार का निर्माण नहीं करना पड़े और उसी आहार से उनकी पूर्ति हो जाये। भिक्षाचर्या में साधु को राजा, गुप्तचर, गृहपति, सेठ के गुप्त मंत्रणा स्थलों पर नहीं जाना चाहिये।[2]

४. **आदानभाण्डमात्रनिक्षेपण समिति**—साधु के उपयोग में आने वाली वस्तुओं को विवेकपूर्वक ग्रहण करना तथा प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करना आदानभाण्डमात्रनिक्षेप है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ओघ और औपग्रहिकउपधि तथा भण्डोपकरण को मुनि द्वारा यतनापूर्वक देखकर ग्रहण करना चाहिए।[4] यहाँ जो सदैव पास रखी जाती हैं वे वस्तुएं "ओघउपधि"

---

१. भाषा समिति नमि हितमितसंदिग्धार्थभाषणम्

आवश्यकहारिभद्रायावृत्ति

(जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप से उद्धृत)

२. रण्णो गिहवईणं च, रहसंसारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ढाणं दूरओ परिवज्जए॥

—दशवैकालिकसूत्र ५।१६

३. आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम आदाननिक्षेपविप्रज्ञेयासमितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः। —आवश्यकहारिभद्रीय वृत्ति
(जैन आचारः सिद्धान्त और स्वरूप से उद्धृत)

४. चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए णिक्खिवेज्जा वा दुहओवि समिए सया॥

—उत्तराध्ययनसूत्र २४।१४

जैसे–रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि एवं जो संयम-रक्षा में थोड़े समय के लिए काम में आती हैं वे वस्तुएं "औपग्रहीत उपधि" कही जाती हैं जैसे––पाट-पाटला, शय्या आदि।

५. **मलमूत्रादिप्रतिस्थापना समिति**—श्रमण को मल-मूत्र आदि परि· ष्ठान योग्य को एकान्त स्थल, जहाँ जीव नहीं हों, ऐसी स्थंडिल भूमि में परठना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि दस विशेषणों वाले स्थंडिल में विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, कप, शरीरका मैल, न खाने योग्य आहार, जीर्ण वस्त्रादि उपधि, मृत शरीर आदि को परठना चाहिये।[१] परठने का स्थान कैसा हो, इस बारे में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—(क) जहाँ कोई आता नहीं हो और देखता भी न हो; (ख) जहाँ कोई आता तो हो, परन्तु देखता नहीं हो; (ग) जहाँ आता तो कोई नहीं हो, किन्तु दूर खड़ा देखता हो और (घ) जहाँ कोई आता भी हो और देखता भी हो, इन चारों में से प्रथम बिन्दु अर्थात् जहाँ कोई आता नहीं हो और देखता भी नहीं हो वह स्थान शुद्ध है तथा वहीं पर परठना उपयुक्त है।

स्थंडिल (जमीन) के दस विशेषण—

१- जहां सपक्ष व परपक्ष का आना-जाना नहीं हो और न ही दृष्टि पड़ती हो।

२- जहाँ छः काय के जीवों की विराधना न होती हो।

३- जहाँ भूमि समतल हो।

४- भूमि साफ व खुली हो।

५- भूमि कुछ समय पूर्व दाह आदि से अचित्त नहीं हो।

६- जो विस्तृत हो, यानी एक हाथ प्रमाण लम्बी-चौड़ी हो।

७- भूमि चार अंगुल नीचे तक अचित्त हो।

८- जहाँ बाग-वगीचा आदि अति निकट नहीं हो।

---

१. 'उच्चार' पासवणं खेत्त सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अण्णं वावि तहाविहं॥

—उत्तराध्ययनसूत्र २४।१५

९- चूहे आदि के बिल नहीं हों।

१०- जहाँ त्रस जीव व शालि आदि के बीज नहीं हों।[1]

तीन गुप्ति :

गुप्ति का अर्थ है गोपन। आचार्य उमास्वाति ने "सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः" कहकर मन, वचन, शरीर के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है, उसे गुप्ति माना है।[2] गुप्तियाँ तीन हैं– मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति व कायगुप्ति।

१. **मनोगुप्ति**—उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्ति करते हुए मन को साधु यतनापूर्वक हटा लेवे।[3] चंचल हुए मन को साधना से काबू में करे, ऐसा करने को मनोगुप्ति कहा गया है।

२. **वचनगुप्ति**--दूसरों को मारने में समर्थ शब्द बोलना वचन संरम्भ है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला शब्द वचन समारम्भ है व प्राणियों के प्राणों का अत्यन्त क्लेशपूर्वक नाश में समर्थ मंत्रादि गुण का वचन आरम्भ है। अतः साधु यतनापूर्वक वचन से इनमें प्रवृत्ति नहीं हो।[4]

३. **कायगुप्ति**—खाने-पीने, उठने-बैठने, हिलने-चलने आदि में अशुभ व्यापारों का परित्याग काय गुप्ति है। किसी को पीटने के लिए तैयार होना काय संरम्भ, प्रहार करना काय समारम्भ व वध के लिए प्रवृत्त होना काय आरम्भ है।[5] अतः साधु अपने को ऐसे कार्य करने से रोकें।

इस प्रकार समितियों का लक्ष्य काय, मन को चारित्र में लगाना है और गुप्तियों का प्रयोजन शुभाशुभ व्यापारों से मन हटाना है। समिति प्रवृत्ति व गुप्ति निवृतिरूप मानी गई है। अतः श्रमण के

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २४।१६-१८

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।४

३. उत्तराध्ययनसूत्र २५।२१

४. वही, २४।२३

५. वही, २४।२५

जीवन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे महाव्रतों आदि के परिपालन में सहायता मिलती है व जीवन आचार दर्शन शुद्ध होता है।

परीषह :

मुनि जीवन के आचार-विचार को यथा रूप पालन करते हुए अचानक कोई संकट उपस्थित होता है, तो उसे समभावपूर्वक सहन किया जाता है। इसी को परीषह कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र व समवायांगसूत्र में बाईस परीषहों का उल्लेख है :[१]

१. क्षुधा परीषह ५- भूख लगने पर भी नियम विरुद्ध आहार न लेना।
२. तृषा परीषह – प्यास लगने पर भी नियम विरुद्ध सचित्त जल न पीना।
३. शीत परीषह – वस्त्र की कमी से शीत लगने पर भी ताप ग्रहण नहीं करना।
४. उष्ण परीषह – गर्मी लगने पर हवा, पानी व पंखे का प्रयोग नहीं करना।
५. दंशमशक परीषह – डांस व मच्छर काटने पर क्रोध नहीं करना।
६. अचेल परीषह – वस्त्र के अभाव की चिन्ता नहीं करना।
७. अरतिपरीषह – सुख-सुविधा का अभाव होने पर चिन्तन नहीं करना।
८. स्त्री परीषह – स्त्री संसर्ग की इच्छा नहीं करना।

१. (क) 'वावीसं परीसहा पण्णत्ता तं जहा–दिगिंछापरिसहे, पिवासापरिसहे सीतपरिसहे, उसीठणमणरिसहे, दंसमसगपरिसहे, अचेलपरिसहे, अरइपरिसहे इत्थीपरिसहे, चरियापरिसहे, निसीहिआपरिसहे, तिज्जापरिसहे, उक्कोसपरिसहे, वहपरिसहे, जायणापरिसहे, अलाभ-परिसहे, रोगपरिसहे, तणफासपरिसहे, जल्लपरिसहे, सक्कारपुर-क्कारपरिसहे, पण्णापरिसहे, अण्णाणपरिसहे, दंसणपरिसहे'।

—समवाए–(सुत्तागमे) सूत्र पृ० ३३५

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, २।२

९,	चर्या परीषह	– पद यात्रा में कष्ट होने पर भी नियम के विरुद्ध नहीं ठहरना।
१०.	निषधा परीषह	– स्वाध्याय के लिये विषम भूमि हो तो खेद नहीं करना।
११.	शय्या परीषह	– विषम भूमि व तृण आदि न हो तो शून्य-गृह में ठहरना।
१२.	आक्रोश परीषह	– दुष्टों द्वारा प्रताड़ित करने पर सहन-शीलता रखना।
१३.	वध परीषह	– यदि मुनि को कोई लकड़ी आदि से मारे तो भी समभाव रखना।
१४.	याचना परीषह	– भिक्षावृत्ति से कभी-कभी सम्मान को चोट पहुँचती है, तो भी साधु मर्यादा का पालन करें।
१५.	अलाभ परीषह	– वस्त्र-भोजन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होने पर भी सहनशीलता से उस कष्ट को सहन करें।
१६.	रोग परीषह	– शरीर में रोग होने पर आवश्यक चिकि-त्सा नहीं मिलने तक शांतचित्त रहना।
१७.	तृण परीषह	– सोते व चलते समय तृण, कांटा आदि चुभने से वेदना को समभाव से सहन करना।
१८.	मल परीषह	– वस्त्र व शरीर पर दूर तक चलने से गंदा हो जाने पर भी हीन भाव नहीं रखना चाहिए।
१९.	सत्कार परीषह	– जनता द्वारा सम्मान होने पर प्रसन्नता का अनुभव नहीं करना।
२०.	प्रज्ञा परीषह	– ज्ञान का अभिमान न करना। बुद्धिमान होने पर वाद-विवाद हो तो खिन्न नहीं हो कि ऐसे से तो अज्ञानी ही अच्छा है।

२१. अज्ञान परीषह – मन्द बुद्धि होने पर भी साधना में लगे रहना।

२२. दर्शन परीषह – अन्य मत व सम्प्रदायों के आडम्बर को देखकर स्वधर्म में अश्रद्धा नहीं करना।

इन बाईस परीषहों को सहन करना चाहिए ये मुक्ति की ओर ले जाने में सहायक तत्त्व हैं।

समाचारी :

विशेष रूप से पालन करने योग्य नियम समाचारी कहे जाते हैं। इसको दिनचर्या कहा जाता है। ये दस प्रकार के बताये गये हैं :[1] आवश्यकीय, नैषेधिकी, आप्रच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, प्रतिश्रुत, तथ्यकार, गुरुपूजा अभ्युत्थान, उपसंपदा।

अनाचार :

श्रमण जीवन को शास्त्रोक्त विधि से, नियमानुसार निम्नांकित ५२ अनाचारों से बचते रहने का विधान किया गया है।[2] ये ही वे नियम हैं जिनके सम्यक् पालन से जनमानस में श्रद्धा व चारित्र की छाप छोड़ी जाती है और इन्हीं अनाचारों का सेवन करने से श्रमण सर्वत्र तिरस्कृत, कलंकित व असंयमी माना जाता है।

१—जो वस्त्र, आहार, स्थान साधु के लिए बनाया या खरीदा गया हो, उसका उपभोग करना।

२—साधु के लिए खरीदी गई कोई भी वस्तु साधु ग्रहण करे।

३—आमंत्रण स्वीकार कर किसी के घर से आहार लेना।

४—धर्मस्थान में या साधु के सामने लाकर दी हुई वस्तु लेना, रखना।

५—रात्रि में अन्न, पानी, खाने की वस्तु या स्वादयुक्त खाने की वस्तु रखना या खाना।

६—हाथ-पाँव धोना या पूर्ण स्नान करना।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २६।२-४

२. दशवैकालिक–अध्याय ३

७—सुगन्धित पदार्थों का सेवन ।

८—किसी भी प्रकार की माला को पहनना ।

९—हवा के लिए पंखे पुट्ठे आदि का उपयोग ।

१०—घी, तेल, गुड़, शक्कर आदि रात्रि में अपने पास रखना ।

११—गृहस्थ के थाली, कटोरी आदि में भोजन करना ।

१२—राजा के लिए बना हुआ आहार लेना ।

१३—दान शालाओं में जाकर आहार लेना ।

१४—बिना कारण तेल मर्दन करना ।

१५—दन्त मंजन करना, राख या मिस्सी रगड़ना ।

१६—गृहस्थ से कुशल-क्षेम पूछना ।

१७—कांच, पानी या तेल में मुँह देखना ।

१८—जुआ खेलना ।

१९—चौपड़, शतरंज आदि खेलना ।

२०—सिर पर छतरी या छत्र धारण करना ।

२१—बिना कारण औषधि लेना या चिकित्सक को दिखलाना ।

१२—जूते, मोजे आदि पहनना ।

१३—दीपक आदि जलाना ।

२४—जिसके घर ठहरे हैं उस घर का आहार पानी लेना ।

२५—खाट, पलंग, कुर्सी आदि किसी भी बुने हुए आसन पर बैठना ।

२६—रोग, तपस्या या वृद्धावस्था के अतिरिक्त कारण से गृहस्थ के यहाँ बैठना ।

२७—शरीर पर पीठी मलना ।

२८—स्वयं गृहस्थ की सेवा करना या गृहस्थ से सेवा करवाना ।

२९—गृहस्थ से जातीय सम्बन्ध जोड़कर आहार लेना ।

३०—गर्म पानी जिस बर्तन में किया जाय वह ऊपर तक गर्म न हो फिर भी पानी लेना ।

३१—रोग, उपसर्ग या परीषह आने पर गृहस्थावस्था या पारिवारिक जनों को याद करना।

३२—मूली	३३—अदरक	३४—गन्ने का टुकड़ा
३५—सूरण	३६—मूल जड़ी	३७—फल
३८—बीज	३९—संचलनमक	४०—सैंधानमक
४१—साधानमक	४२—रोमदेश का नमक	
४३—समुद्री नमक	४४—धूल युक्त नमक	४५—काला नमक

का उपयोग करना।

४६—शरीर या वस्त्र को धूप देना।

४७—बिना कारण जानबूझकर वमन करना।

४८—गुह्यस्थान की शोभा करना।

४९—बिना कारण जुलाब लेना।

५०—आँखों की शोभा के लिए अंजन या सुरमा लगाना।

५१—दाँतों को रगड़ना।

५२—व्यायाम-कसरत आदि करना।

इस प्रकार ५२ अनाचारों से यह स्पष्ट है कि साधु का जीवन सीधा-साधा व सरल होना चाहिए। जो साधु इन ५२ अनाचारों से बचकर अपना संयम पालन करते हैं वे ही साधु-जीवन का यथार्थ में पालन करते हैं।

वर्तमान स्थिति :

इस प्रकार उपरोक्त जैन श्रमण की साधना-पद्धति पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के चतुर्विधसंघ में साधु को जो सर्वप्रथम सम्मानजनक स्थान प्रदान किया गया है वह उनके वेश से नहीं आचरण से दिया गया है।

सच्चा श्रमण वही है जो मन, वचन और शरीर से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। कष्टों, उपसर्गों व परिषहों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं, शारीरिक ममत्व

का त्याग करते हैं। सभी अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में समता युक्त बने रहते हैं, स्वयं वीतराग की वाणी के अनुसार आचरण करते हैं और दूसरों को भी उनके अनुसार आचरण करने का उपदेश देते हैं। पाँच समिति, तीन गुप्ति के आराधक होते हैं, आदर, सत्कार, वन्दन, निन्दा, प्रशंसा से प्रभावित नहीं होते हैं, मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं के जानकार होते हुए भी उनका उपयोग नहीं करते हैं, बाईस परीषहों को जीतते हैं और ५२ अनाचारों से बचकर संयमजीवन का निर्वाह करते हैं।

परन्तु वर्तमान में समाज की प्रबुद्ध एवं युवा पीढ़ी जब इन आचरणों के विपरीत क्रिया करते हुए कुछ वेशधारी साधुओं को देखती है, तो उसे समग्र साधुओं पर संदेह होने लगता है। अनेक सम्प्रदायों में विभक्त, एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करने वाले, अनेक दुराचारों में लिप्त, समाज को गुमराह कर चलने वाले, आचरण और संयम में शिथिल अज्ञानी अशिक्षित आदि कुछ ऐसे जैन श्रमण हैं, जो सम्पूर्ण श्रमण संस्था को कलंकित करते हैं परन्तु कुछेक व्यक्तियों के आचरण व व्यवहार से समग्र साधु-समाज का मूल्यांकन करना भी उचित नहीं है।

यह बात सही है कि साधु, समाज के व्यक्तियों के सहयोग से जीवनयापन करता है इसलिए शास्त्रों में गृहस्थों को साधुओं के माता-पिता की संज्ञा दी गई है। परन्तु उनकी यह आवश्यकतापूर्ति समाज व्यर्थ में नहीं करता है। साधु अपने ज्ञान और आचरण द्वारा स्वयं के साथ-साथ समाज का भी कल्याण करता है। वह ज्ञान-साधना के क्षेत्र में जो अध्ययन, मनन और चिन्तन करता है, उसका नवनीत वह समाज को देता है।

समाज को मर्यादित व नैतिक बनाने में साधु संस्था महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। ये समाज से सिर्फ रोटी, कपड़ा लेकर समाज के नैतिक आदर्शों को जीवित रखते हैं। यदि हम परस्पर प्रेम, स्नेह और सद्भावना के प्रतीक रूप समाज की कल्पना करते हैं, हमारे बच्चों और भावी पीढ़ी में संस्कार चाहते हैं तो इन उच्चादर्शों के पालन करने वाले साधुओं के महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा।

यह बात भी सही है कि इन श्रमणों के वेश में ऐसे अनेक तत्त्व शामिल हैं जो इनकी छवि को बिगाड़ रहे हैं, समाज को उनसे साव-

धान रहना है। अगर कोई भी साधु या साध्वी श्रमणाचार के विपरीत आचरण करता पाया जाये तो समाज के प्रबुद्ध श्रावक का कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्ति को उचित बोध प्रदान करें ताकि हमारे गौरवशाली इतिहास को अक्षुण्ण रखा जा सके।

साधुओं को भी चाहिए कि वे पूर्वाग्रह व हठधर्मिता को छोड़कर धर्म को वैज्ञानिक व तार्किक शैली से समझकर प्रस्तुत करें। इस भौतिकतावादी युग में, विज्ञान के चमत्कारों और उच्च शिक्षा के समय केवल आत्मा–परमात्मा, लोक–परलोक, स्वर्ग-नरक कहने से ही कार्य नहीं चलेगा, इन सब की तार्किक व मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज के सामने प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता है। युवाओं का समाज एवं धर्म से पूर्णरूपेण नहीं जुड़ पाने का मेरी समझ में यही एकमात्र कारण है कि हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म और दर्शन को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं।

मेरा इस प्रकार वर्तमान स्थिति को लिखने का एक मात्र यही दर्द है कि हमारा युवा क्यों समाज के सम्मुख नहीं आता, या यों कहूँ कि उसे क्यों आने नहीं दिया जाता है। युवकों के सक्रिय हुए बिना समाज अधूरा है, निर्बल है अशक्त है।

यह विचार किसी पर आक्षेप या व्यामोह के परिचायक नहीं का है। युवा होने एवं जैन धर्म-दर्शन पर कार्य करते हुए जो अनुभव होते हैं उन्हें लेकर ही इन लेखों के माध्यम से मैं आप तक पहुँचता हूँ, और यह आशा करता हूँ कि इन भावनाओं के अनुरूप मेरे युवा मित्र हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलेंगे।

शोध अधिकारी
आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर (राजस्थान)

तीर्थंकर महावीर जन्मना ब्राह्मण या क्षत्रिय

—सौभाग्यमल जैन

संस्कृत के एक सुभाषित में कहा गया है कि—

अयं निजः परोवेति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

जिन जीवात्माओं की चेतना लघु होती है उनके निकट स्व-पर का प्रश्न होता है और जो उदारचरित हैं उनके लिये पूरा विश्व एक कुटुम्ब जैसा होता है। महावीर उदारचरित थे, असाधारण महापुरुष थे। वे विश्वात्मरूप सारे जगत् को विश्वात्ममय अनुभव करते थे, सारे प्राणि-जगत् के प्रति अनुकंपा का भाव उनके हृदय में था। उर्दू के एक कवि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

खंजर चले किसी पर, तड़पता है मेरा दिल ।
कि सारे जहाँ का दर्द, मेरे ज़िगर में है ।।

इस कारण महावीर के संबंध में कुल, वर्ण आदि का प्रश्न महत्त्व नहीं रखता किन्तु इतिहास ठोस तथ्यों पर आधारित होता है, वहाँ भावना का महत्त्व नगण्य है। इतिहास की दृष्टि से देखने पर यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि महावीर जन्मना ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। जैन धर्म के दोनों महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में उनका जन्म क्षत्रिय कुल के ज्ञातृ-वंश में लिच्छवी गण के राजा सिद्धार्थ की पत्नी प्रियकारिणी त्रिशला के गर्भ से होने की दृढ़ मान्यता है किन्तु श्वेता० सम्प्रदायमान्य भगवती सूत्र के ९वें शतक में उल्लेख है कि जब ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा ब्राह्मणी भगवान् के समवसरण (धर्म-सभा) में उपस्थित हुई तो उसके स्तन दूध से भर गये, अश्रुपात होने लगा, पुलकित हो गई तब प्रथम गणधर इन्द्रभूति के प्रश्न पर भगवान् ने समाधान किया कि देवानंदा ब्राह्मणी मेरी माता है। जहाँ तक लेखक को जानकारी है दिग० परम्परा के किसी ग्रंथ में इस घटना का उल्लेख नहीं है।

कहा जाता है कि तीर्थंकर महावीर का जीव स्वर्ग से च्युत होकर देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आषाढ़ शुक्ल ६ को आया तथा ८२ दिन तक ब्राह्मणी के गर्भ में रहा किन्तु ८३ वें दिन कथाकार के अनुसार देव ने देवानंदा के गर्भाशय से भ्रूण निकालकर माता त्रिशला के गर्भाशय में स्थापित कर दिया। कथाकार के अनुसार तीर्थंकर का जन्म क्षत्रिय-कुल में होता रहा है, इसी कारण यह गर्भ-परिवर्तन कराया गया। यदि इस पौराणिक मिथ को सत्य मान भी लिया जाये तो भी वास्तविक कुल ब्राह्मण ही होता है। प्राणि-जगत् में मनुष्य गर्भज प्राणी है गर्भ-स्थानान्तरण के पश्चात् स्वप्न-दर्शन, नैमित्तिकों से स्वप्न-फल, उपयुक्त समय पर जन्म, सब कुछ राजा सिद्धार्थ के यहां हुआ जो क्षत्रिय थे। गर्भावतरण के पूर्व की घटना सब कुछ सार्वजनिक नहीं थी किन्तु स्वप्न-फल से लेकर घटना सार्वजनिक थी। क्योंकि राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला वैशालीगण के अधिपति महाराजा चेटक की बहिन थी जो विदेहवंशीय थे, इसी कारण उसे विदेहदत्ता तथा तीर्थंकर महावीर को विदेहदत्ता के पुत्र विदेह निवासी राजकुमार वैशालीक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र में उल्लेख है इसी कारण भगवान् का जन्म क्षत्रियकुल में होना प्रसिद्धि पा गया।

उपरोक्त भगवती सूत्र के ९ वें शतक के कथन के पूर्व इसी महत्त्वपूर्ण शास्त्र में ही देव में गर्भ-परिवर्तन की क्षमता का कथन है। किन्तु वहाँ महावीर का नाम निर्दिष्ट नहीं है। भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव ने कल्पना की है कि यह उल्लेख भगवान् महावीर से सम्बन्धित है क्योंकि उनका गर्भ परिवर्तन हुआ था। हाँलाकि गर्भसक्रमण की घटना आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५वें अध्ययन (भावना चूलिका) में है। इसकी रचना का काल भद्रबाहु का काल (महावीर निर्वाण से २०० वर्ष पश्चात्) माना जाता है। स्थिति यह हुई कि भगवान् का क्षत्रिय-पुत्र होने का कथन (आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध) में तथा इसके विपरीत देवानंदा के माता होने का कथन (जो परस्पर भिन्न थे) भगवती सूत्र में सुरक्षित रहे। वीरनिर्वाण के चार शताब्दी पश्चात् आगम प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित हुआ तो एक घटक दिगम्बर परम्परा ने आचारांग सूत्र का कथन ही सत्य माना तथा दूसरी श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा ने भगवतीसूत्र और

आचारांग दोनों का कथन सत्य मानकर इनके परस्पर विरोध के शमन के रूप में गर्भान्तरण की घटना को आगम में स्थान दिया।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अंग शास्त्र वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष पश्चात् (विक्रमाब्द ५वीं शताब्दी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में ताड़पत्रों पर लिपिबद्ध हुए। हालाँकि अंग साहित्य का अस्तित्व इसके पूर्व भी (थोड़े परिवर्तन के साथ) मौजूद था। अंग साहित्य के पश्चात् ८ या ९वीं शताब्दी के आवश्यक निर्युक्ति तथा भाष्य में गर्भान्तरण की घटना संक्षिप्त रूप में है। तात्पर्य यह कि महावीर के जीवन से सम्बद्ध अधिक से अधिक वृत्तान्त को उस समय तक के रचित साहित्य का दोहन करके आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) ने अपनी कवित्व शक्ति, कल्पना शक्ति का भरपूर उपयोग करके स्वरचित त्रिषष्टिशलाका-पुरुष ग्रन्थ में समाविष्ट किया। ऐसा लगता है कि आचार्य के सम्मुख जैन साहित्य के साथ भागवत पुराण में वर्णित वासुदेव कृष्ण का जीवन चरित्र तथा घटनायें रहीं। निष्कर्ष यह है कि अंग साहित्य से लेकर १२वीं शताब्दी तक महावीर के जीवन की घटनाओं में रंग भरता गया और उसको अलौकिक घटना से भरपूर कर दिया गया।[2]

निस्सन्देह कथा लेखक अपने समकालीन या पूर्व के साहित्य की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकता। एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अवश्यं-भावी है। आचारांग तथा भगवती सूत्र में उपरोक्त परस्पर विरोधी विवरणों में सामञ्जस्य बिठाने के प्रयत्न में वृत्तांत में असंगत घटना को शामिल किया गया। प्राणि-जगत् में किसी की दो मातायें होना असंभव है। अतः आश्चर्यजनक घटना को विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए हरिणेगमेषी देव का सहारा लिया गया, जैसा कि ऊपर जिक्र किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भागवत पुराण में वर्णित कृष्ण जीवन की अलौकिक घटना को सामने रखकर कवित्व शक्ति का भरपूर उपयोग कर महावीर के जीवन को अलौकिक घटना से भर दिया।[3]

---

१. दर्शन और चिंतन खण्ड २, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, पृ० ३७

२. चार तीर्थंङ्कर पृ० ७५-७६, पा० वि० शो० सं०, वाराणसी द्वि० सं० १९८९

३. वही, पृ० ५९

महावीर के समकालीन तथागत बुद्ध के जीव के गर्भ में आने के पूर्व देवगण उनके कुल तथा जन्म-स्थान के संबंध में विचार करके यह तय करते हैं कि इनका जन्म कपिलवस्तु के शाक्य कुल में उपयुक्त रहेगा। संभव है बौद्ध ग्रंथों में वर्णित इस घटना की कुछ छाया हमारे जैन कथाकारों के मस्तिष्क में भी हो। विद्वान् श्री देवेन्द्र मुनिजी ने यह मत व्यक्त किया है कि ब्राह्मण ज्ञान योगी हो सकता है; कर्मयोगी नहीं। इस कारण जन्म शाक्य कुल में होना जरूरी है।[1]

इस संवंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जैन दर्शन में "कर्म" की शक्ति बहुत शक्तिवान मानने की अवधारणा है। कर्म के आगे सब विवश हैं। यह स्मरणीय है कि महावीर के निर्वाण के पूर्व यह प्रश्न उनके सम्मुख उपस्थित हुआ कि यदि भगवान् का निर्वाण पूर्व या बाद का हो जाये तो भस्मग्रह को निष्प्रभावित किया जा सकता है। जिसका दुष्प्रभाव जैन शासन पर होने की संभावना है। किन्तु स्वयं महावीर ने उत्तर दिया कि यह किसी के वश में नहीं है। यह भी स्मरणीय है कि ८ कर्मों में गोत्र कर्म के फलस्वरूप उच्च-नीच गोत्र का बंध होता है। इसी प्रकार आयु कर्म में आयुष्य बंध होता है। कर्म को अप्रभावी करने के संबंध में महावीर ने विवशता बताई। क्या हरिणेगमेषी देव में यह शक्ति हो सकती है? वास्तविकता यह ज्ञात होती है कि उस युग में ब्राह्मण पुरोहित यज्ञ पर पलने के कारण स्वार्थी हो गया था, तत्कालीन समाज में अलोकप्रिय भी हो गया था। क्योंकि राज्याश्रय के कारण सैनिकों द्वारा कृषि योग्य पशु तक को पकड़वाकर बलि दी जाती थी। इस कारण जनसाधारण की दृष्टि में वह हेय माना जाने लगा।[2] यह भी एक कारण हो सकता है कि जिसने हमारे कथाकारों को क्षात्र कुल में जन्म लेने की बात पर जोर देने को विवश किया उसके लिये गर्भावतरण की घटना को कथा में जोड़ना पड़ा केवल यही नहीं अपितु यह घोषणा भी की गई कि तीर्थंकर सदैव क्षात्र कुल में जन्म लेते हैं। महावीर के जीव का ब्राह्मणी के गर्भ में आना तीर्थंकर के जिन-व्यवहार के विरुद्ध है। कथाकारों ने अपने आराध्य

---

१. महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २१३

२. भारतीय संस्कृति के ४ अध्याय पृ० १३६, ३८४, २३४.

तीर्थंकर के जीवन के साधारण क्रम में भी देवी-देवताओं का प्रवेश कराकर उनके महत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कई अतिशययुक्त कल्पनायें शामिल कर दी गईं। यह प्रयत्न एक भक्त हृदय का है इतिहास लेखक का नहीं। संभवतः महान् आचार्य समन्तभद्र ने एक स्तोत्र में इन्हीं विचारों को लक्ष्य कर कहा था—

देवागम नभो यान, चामरादि विभूतयः।
मायाविष्वपि इश्वते, नातस्तोभपि नोमहान ।।

आपके लिये आकाश मार्ग से देव यान से आते हैं, आपको समक्ष समवसरण में चंवर डुलाई जाती है। यह ऐश्वर्य तो एक मायावी (इन्द्र जालिया) भी बना सकता है आप इसके कारण महान् नहीं अपितु आपका उदात्त कर्म, महान् है इसी कारण पूज्य हैं।

निष्कर्ष यह है—जैसा कि स्वनामधन्य प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी ने व्यक्त किया हैं :—

(१) तीर्थङ्कर महावीर की माता देवानंदा ब्राह्मणी थी और जन्म कुल ब्राह्मण था।

(२) यह भी संभावना है कि बाल्यावस्था में ही उनको सिद्धार्थ राजा ने गोद लिया हो किन्तु यह उचित नहीं लगता क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र नंदिवर्धन मौजूद थे। मुझे अधिक सम्भावना यह लगती है कि पालन-पोषण के लिये सिद्धार्थ राजा के यहाँ बाल्यावस्था में ही रख दिया गया।

(३) यह महत्त्वपूर्ण है कि तत्कालीन क्षात्र कुल की उच्चता सर्व-स्वीकृत थी। क्षात्र कुल में अहिंसक वातावरण था जो जन्मना ब्राह्मण बालक तीर्थङ्कर महावीर की अन्तर्वृत्ति के अनुकूल था। तीर्थङ्कर महावीर का सारा जीवन क्षात्र तेज सम्पन्न, अदम्य साहस और शौर्यमय बीता।

मैंने इस लेख की तैयारी में स्वनामधन्य पं० सुखलालजी, विद्वान् देवेन्द्र मुनिजी, स्व० रामधारी सिंह दिनकर की महत्त्वपूर्ण कृतियों तथा विचारों से लाभ लिया है उनका ऋण स्वीकार करके उनके प्रति नतमस्तक हूँ।



श्रमण

—उत्सव लाल तिवारी 'सुमन'

भारतीय संस्कृति का भूषण है वह श्रमण
पारमार्थिक है जिसका तन-मन-और जीवन,
तन-मन और जीवन है न्योछावर जगत-हित
परहित निरत, नित चिन्तन करता सदय चित,
माना जाता शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध जग वन्दनीय
रहता है, सन्तुष्ट जो श्रमण सदा आतमी ॥ १ ॥

शान्ति प्रिय सन्तुष्ठ मन· धर्म-कर्म सम्पन्न
बिना पड़े छल छद्म में, रहता सदा प्रसन्न
रहता सदा प्रसन्न, दिखलाता सबको सुपथ
भेद-भाव रहित कर चलवाता संसारि रथ
अपनाता उस धर्म को मिटाय भव-भ्रान्ति
सब सत्कर्म सिखाय, जो अशान्तिहर दे, शान्ति ॥ २ ॥

जो कर्म निरन्तर करे नैतिक नैमेत्तिक
धर्माचरण निभाय, सामूहिक वैयक्तिक
सामूहिक वैयक्तिक श्रद्धा, विश्वास बढ़ाय
जग-जन-जीवन मध्य, उत्तम अभिलाष जगाय
स्व-पर हित कर रख पाय वशमें निजमनको
सार्थक कर दिखलाय-सुमन श्रमण जीवन को ॥ ३ ॥

सब उसको दे साथ, उसके सब संकट कटे
जीवन होवे मुक्त भयभ्रान्ति झंझट हटे
भयभ्रान्ति झंझट हटे उसे कष्ट व्यापे नहीं
कठिन उलझनकी जड़ काटे सफलता से वही
उसे न कोई सताय, परहित श्रम अथक करे
अपना श्रमण जन्म, वह यथार्थ सार्थक करे



२५/१ सुमन कुटीर
भाऊ साहब वाली हवेली
तिवारी मार्ग १
उज्जैन म० प्र० ४५६००६

'समयसार' के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व-अकर्तृत्व एवं भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व

— डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय

ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण भारत के कोण्डकुन्द नामक स्थल पर अवतीर्ण हुये आचार्य कुन्दकुन्द का दिगम्बर जैन परम्परा के आचार्यों में अप्रतिम स्थान है। उनकी महत्ता इसी प्रमाणद्वारा सिद्ध हो जाती है कि दिगम्बर परम्परा के मङ्गलाचरण में उनका स्थान गौतम गणधर के तत्काल पश्चात् आता है।[1] दक्षिण भारत के चार दिगम्बर संघों में से तीन का कुंदकुंदान्वय कहा जाना इसी तथ्य का प्रतिपादक है। कुंदकुंदाचार्य की गणना उन शीर्षस्थ जैन आचार्यों में की जाती है जिन्होंने आत्मा को केन्द्र-बिन्दु मानकर अपनी समस्त कृतियों का सृजन किया। उनकी कृतियों में से प्रमुख तीन पंचास्तिकाय, प्रवचनसार एवं समयसार का जैन आध्यात्मिक ग्रन्थों में वही स्थान है जो प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) का वेदान्त दर्शन में है। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा अभीष्ट इन तीनों रचनाओं में से 'समयसार' के अनुसार आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की विवेचना है।

समयसार आत्मकेन्द्रित ग्रन्थ है। अमृतचन्द्र स्वामी ने 'समय' का अर्थ 'जीव' किया है--'टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः। समयत एकत्वे युग पज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः'[2] अर्थात् टङ्कोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जो जीव नाम का पदार्थ है, वह

---

१. मङ्गलम् भगवान वीरो मङ्गलम् गौतमो गणी।
मङ्गलम् कुन्दकुन्दार्यः जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥
कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि : डा० सुषमा गांग प्रस्तावना पृ० ३१, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी-१९८२

२. समयसार—पं० पन्नालाल द्वारा सम्पादित-प्रस्तावना पृ० १७, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी-वी०नि०सं० २५०१

समय कहलाता है। जयसेनाचार्य ने भी 'सम्यग् अय: बोधो यस्य भवति स समय: आत्मा' अथवा 'समं एकभावेनायनं गमनं समय:[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार समय का अर्थ आत्मा किया है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्मल आत्मा को 'समय' कहा है—'समयो खलु णिम्मलो अप्पा'[2]। अत: समयसार का अर्थ है त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव अथवा सिद्धपर्याय आत्मा। दूसरे शब्दों में आत्मा की शुद्धावस्था ही समयसार है एवं इसी शुद्धावस्था का विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है।

आत्मा की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमुख एवं मौलिक है। जैनदर्शन में आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमानादि सबल अकाट्य प्रमाणों द्वारा की गई है। श्वेताम्बर आगम आचारांगादि में यद्यपि स्वतन्त्र रूप से तर्कमूलक आत्मास्तित्व साधक युक्तियाँ नहीं हैं फिर भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे आत्मास्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। आचारांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध[3] में कहा गया है कि 'जो भवान्तर में दिशा-विदिशा में घूमता रहता है वह "मैं" हूँ। यहाँ "मैं" आत्मा के लिये आया है। दिगम्बर आम्नाय के षट्‌खण्डागम में आत्मा का विवेचन है किन्तु आत्मास्तित्व साधक स्वतन्त्र तर्कों का अभाव है। दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार' में आत्मा का विशद विवेचन किया है।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का मत है कि आत्मा स्वत:सिद्ध है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्रत्येक जीव को सदैव रहता है—

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो ते पाणा पोग्गल दव्वेहिं णिवन्ता ॥[4]

जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से जीता

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति पृ० ५।
२. रयणसार—कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा० शास्त्री, देवेन्द्रकुमार गाथा १५३ पृ० १९४
३. आचारांग १।१।१।४
४. प्रवचनसार गाथा २।५५ पृ० १८९ सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास १९६४

था, जीता है, और जीएगा, वह जीव द्रव्य है और चारों प्राण पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि[1] में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि करते हुए कहा है कि जिस प्रकार यन्त्र प्रतिमा की चेष्टायें अपने प्रयोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार प्राण आदि कार्य भी क्रियावान आत्मा के साधक हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रकारान्तर से आत्मा को 'अहं' प्रतीति द्वारा ग्राह्य कहा है। 'जो चैतन्य आत्मा है, निश्चय से वह मैं (अहं) हूँ, इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अवशेष समस्त भाव मुझसे परे है, ऐसा जानना चाहिए'[2]। इस प्रकार आत्मा स्वतःसिद्ध है।

आत्मस्वरूप का विवेचन समयसार में आचार्य कुंदकुंद ने दो दृष्टियों से किया है : पारमार्थिक दृष्टिकोण एवं व्यावहारिक दृष्टि-कोण। दृष्टिकोण को जैनदर्शन में नय कहा गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से नय दो प्रकार के होते हैं–(१)निश्चय और (२) व्यवहार नय। पारमार्थिक दृष्टि ही निश्चय नय है। कुंदकुंद ने निश्चय नय को भूतार्थ,[3] परमार्थ,[4] तत्त्व,[5] एवं शुद्ध[6] कहा है। निश्चय नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ग्राहक अर्थात् भेद में अभेद का ग्रहण करने वाला और व्यवहार नय को अभूतार्थ अथवा वस्तु के अशुद्ध स्वरूप का ग्राहक कहा गया है।[7] आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन शुद्ध निश्चय से (अर्थात् जो शुद्ध वस्तु है उसमें कोई भेद न करता हुआ, एक ही तत्त्व का कथन शुद्ध निश्चय करता है) एवं उसके अशुद्ध स्वरूप का विवेचन व्यवहार नय से (अर्थात् अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से कथन करता है)। शुद्ध स्वरूप का विवेचन कुंदकुंद ने भावात्मक और अभावात्मक दोनों दृष्टियों से किया है। भावात्मक पद्धति में उन्होंने

१. सर्वार्थसिद्धि ५।१९, पृ० १६६, सम्पा० जगरूप सहाय, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता वि० सं० १९८५
२. समयसार-गाथा २९७
३ वही, गाथा ११
४. वही, गा० १५६
५. वही, गा० २९
६. वही, गा० ११
७. वही, गा० ११

बताया है कि आत्मा क्या है ? और निषेधात्मक पद्धति में बताया है कि बौद्ध दर्शन की भाँति पुद्गल उसकी पर्यायें तथा अन्य द्रव्य आत्मा नहीं हैं।

निश्चय तथा व्यवहार नय के माध्यम से आत्मा का विवेचन करते हुये आचार्य ने कहा है कि –'निश्चय नय के अनुसार आत्मा चैतन्य-स्वरूप तथा एक है, वह बंधविहीन, निरपेक्ष, स्वाश्रित, अचल निस्संग, ज्ञायक एवं ज्योतिमात्र है।[1] निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है और न ज्ञानदर्शनचारित्र स्वरूप है।[2] वह तो एकमात्र ज्ञायक है। वह अशेष द्रव्यान्तरों से तथा उसके निमित्त से होने वाले पर्यायों से भिन्न शुद्ध द्रव्य है। आत्मा अनन्य शुद्ध एवं उपयोग स्वरूप है। वह रस, रूप और गन्धरहित, अव्यक्त चैतन्यगुण युक्त, शब्द-रहित चक्षु इन्द्रिय आदि से अगोचर अलिंग एवं पुद्‌गलाकार से रहित है। वह शरीर संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, वर्ग, वर्गणा, अध्यवसाय, अनुभाग, योग, बंध, उदय, मार्गणा, स्थितबंध, संक्लेश स्थान से रहित है।[3] आत्मा निर्ग्रन्थ, वीतराग व निःशल्य है।[4] परमात्मप्रकाश में शुद्ध आत्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि 'न मैं मार्गणा स्थान हूँ, न गुणस्थान हूँ, न जीवसमास हूँ, न वालक-बृद्ध एवं युवावस्था रूप हूँ।[5] समयसार में आचार्य ने कहा है कि 'निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय एवं सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है।[6] निश्चय नय से यह आत्मा अनादिकाल से अप्रतिबुद्ध हो रहा है, इसी अप्रति-बुद्धता के कारण वह 'स्व' और 'पर' के भेद से अनभिज्ञ है। आत्मा है तो आत्मा में ही परन्तु अज्ञानी उसे शरीरादि पर पदार्थों में खोजकर

१. समयसार गा० १:-१५

२. ण वि होदि अपमत्तो पा मत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।। समयसार ६

३. समयसार ५०-५५, नियमसार ३।३८-४६, ५।७८ एवं ८०

४. नियमसार ३।४४, ४८

५. परमात्मप्रकाश गाथा ९१ योगिन्दु सम्पा० उपाध्ये, ए० एन०, श्रीमद राजचन्द्र आश्रम, अगास १९६०

६. समयसार ७८

दु:ख का पात्र बनता है। नियमसार में भी आचार्य ने कहा है कि निश्चय नय से आत्मा जन्म, जरा-मरण एवं उत्कृष्ट कर्मों से रहित, शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुखवीर्य स्वभाव वाला, नित्य अविचल रूप है।[१] अतः निश्चय नय से आत्मा चैतन्य उपयोग स्वरूप,[२] स्वयंभू, ध्रुव, अमूर्तिक, सिद्ध अनादि घन अतीन्द्रिय, निर्विकल्प एवं शब्दातीत है। समस्त षट्कारचक्र की प्रक्रिया भेद दृष्टि या व्यवहार नय से है अभेद दृष्टि में इसका अस्तित्व ही नहीं है।

व्यवहार नय की दृष्टि से आचार्य ने अशुद्ध संसारी आत्मा का विवेचन किया है। इस दृष्टि से अध्यवसाय आदि कर्म से विकृत भावों को आत्मा कहा है। जीव के एकेन्द्रियादि भेद, गुणस्थान, जीव समास एवं कर्म के संयोग से उत्पन्न गौरादि वर्ण तथा जरादि अवस्थाएँ और नर-नारी आदि पर्यायें अशुद्ध आत्मा की होती हैं।[३] व्यवहार नय दृष्टि से ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के कहलाते हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप, प्रभुकर्ता, देहप्रमाण एवं कर्मसंयुक्त है।[४] व्यवहार नय से आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुखादि फलों का भोक्ता है। व्यवहार से ही जीव व शरीर को एक समझा जाता है निश्चय नय से जीव व शरीर कभी एक नहीं हो सकते। शरीर के साथ आत्मा का एक क्षेत्रावगाह होने से शरीर को आत्मा कहने का व्यवहार होता है जैसे—चाँदी व सोने को गला देने पर एक पिण्ड हो जाता है पर वस्तुतः दोनों अलग होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर इन दोनों के एक क्षेत्र में अवस्थित होने से दोनों की जो अवस्थायें हैं यद्यपि भिन्न हैं तथापि उनमें एकपन का व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार व्यवहार नय से आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता एवं सुखादि फलों का भोक्ता है।

---

१. नियमसार १७७-७८

२. पंचास्तिकाय १६; १०९, १२४, प्रवचनसार ३५, भावपाहुड़ ६२, सर्वार्थसिद्धि २।८

३. समयसार ५६-६७

४. पंचास्तिकाय—२७ सम्पा० मनोहर लाल परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई १९०४

आत्मा का कर्तृत्व-अकर्तृत्व :—

न्याय-वैशेषिक, मीमांसा व वेदान्त की तरह जैन दार्शनिकों ने भी आत्मा को शुभ-अशुभ, द्रव्यभाव कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता माना है। सांख्य दर्शन एक ऐसा दर्शन है जो आत्मा को कर्त्ता तो नहीं मानता पर भोक्ता मानता है। अन्य भारतीय दार्शनिकों की अपेक्षा जैन दार्शनिकों की यह विशेषता रही है कि वे अपने मूलभूत सिद्धान्त स्याद्वाद के अनुसार आत्मा को कथंचित् कर्त्ता व कथंचित् अकर्त्ता मानते हैं।

जैनदर्शन की परम्परागत मान्यता के अनुरूप आचार्य कुन्दकुन्द भी आत्मा को कर्त्ता एवं भोक्ता निर्दिष्ट करते हैं। उन्होंने आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया है—निश्चय नय, अशुद्धनिश्चय नय एवं व्यवहार नय। इन तीनों दृष्टियों से विचार करने पर आत्मा में कर्तृत्व-अकर्तृत्व एवं भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व दोनों परिलक्षित होता है। जिसे हम आने वाली पंक्तियों में देखेंगे।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार आत्मा को कर्त्ता कहने का तात्पर्य यह है कि वह परिणमनशील है। 'यः परिणमति सः कर्त्ता'[१] अन्य द्रव्यों की भाँति आत्मा में भी स्वभाव व विभाव दो पर्याय माने गये हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये आत्मा के स्वभाव गुण पर्याय हैं। पुद्गल या पुद्गलकर्मों के संयोग के कारण आत्मा में होने वाले पर्याय विभाव पर्याय कहलाते हैं जैसे— मनुष्य, नारकीय, तिर्यञ्च आदि गतियों में आत्मप्रदेशों का एकाकार होना विभाव पर्याय है। चूंकि व्यवहार व अशुद्ध नय की अपेक्षा ही आचार्य कुंदकुंद आत्मा में कर्तृत्व मानते हैं इसलिये उनके अनुसार व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म एवं घटपटादि कर्मों का कर्त्ता है और अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से भावकर्मों का कर्ता है। समयसार[२] में आचार्य ने कहा है कि व्यवहार नय से आत्मा घट, पट, रथ आदि कार्यों को करता है, स्पर्शनादि पंचेन्द्रियों को करता है ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों तथा क्रोधादि भावकर्मों को करता है।' व्यवहार नय से जीव ज्ञानावरणादि कर्मों, औदारिकादि शरीर एवं

२. समयसार आत्मख्याति टीका गाथा ८६, कलश—५१

३. समयसार—९६

आहार पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल रूप नोकर्मों और बाह्यपदार्थ घट-पटादि का कर्ता है किन्तु अशुद्ध निश्चय नय से रागद्वेषादि भावकर्मों का कर्ता है।[१] पंचास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति[२] में भी कहा गया है कि अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में शुभाशुभ परिणामों का परिणमन होना ही आत्मा का कर्तृत्व है। अतः व्यवहारनय या उपचार से ही आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता है। 'कर्मवन्ध का निमित्त होने के कारण उपचार से कहा जाता है कि जीव ने कर्म किये हैं, उदाहरणार्थ-सेना युद्ध करती है किन्तु उपचार से कहा जाता है कि राजा युद्ध करता है, उसी प्रकार आत्मा व्यवहार दृष्टि से ही ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता कहलाता है'।[३] प्रवचनसार की टीका में कहा गया है कि आत्मा अपने भावकर्मों का कर्ता होने के कारण उपचार से द्रव्य कर्म का कर्ता कहलाता है,[४] जिसप्रकार लोक रूढ़ि है कि कुम्भकार घड़े का कर्ता व भोक्ता होता है उसी प्रकार रूढ़िवश आत्मा कर्मों का कर्ता व भोक्ता है।[५] पर और आत्मद्रव्य के एकत्वाध्यास से आत्मा कर्ता होता है।[६] जीव (आत्मा) और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है।

किसी भी क्रिया के सम्पादित होने में उपादान-उपादेय एवं निमित्त-नैमित्तिक कारण मुख्य हैं। जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान कहलाता है और जो कार्य होता है वह उपादेय कहलाता है, जैसे-मिट्टी घटाकार में परिणित होती है, अतः वह घट का उपादान है और घट उसका उपादेय है। यह उपादान-उपादेय भाव सदा एक ही द्रव्य में बनता है क्योंकि एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं कर सकता।[७] उपादान को कार्यरूप में परि-

---

१. द्रव्य संग्रह—टीका नेमिचन्द्र सम्पा० कोठिया, दरबारी लाल, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला—१६ वाराणसी, १९६६ पृ० ८; श्रावकाचार (वसुनन्दि। ३५.

२. चूलिका गाथा ५७

३. समयसार-१०५-८१

४. प्रवचनसार-तत्त्वदीपिका टीका २९

५. समयसार आत्मख्याति टीका ८४

६. समयसार-९७

७. नो भौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत,-समयसार गाथा ८६ पर अमृत चन्द टीका पृ० १०

णित करने वाला या परिणित करने में जो सहायक है, वह निमित्त कहलाता है, और उस निमित्त से उपादान में जो कार्य निष्पन्न हुआ है वह नैमित्तिक कहलाता है—जैसे कुम्भकार तथा उसके दण्ड, चक्र, चीवर आदि उपकरणों से मिट्टी में घटाकार परिणमन हुआ तो यह सब निमित्त हुये व घट नैमित्तिक हुआ। यहाँ निमित्त व नैमित्तिक दोनों पुद्गल द्रव्य के अन्दर निष्पन्न हैं और जीव के रागादिभावों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य में परिणमन हुआ। जब उपादान उपादेयभाव की अपेक्षा विचार होता है तब चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गल रूप उपादान में हुआ है, इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं। किन्तु जब निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा विचार होता है तब जीव के रागादिक भावों का निमित्त पाकर पुद्गल में कर्मरूप परिणमन हुआ है, कुम्भकार के हस्तव्यापार का निमित्त पाकर घट का निर्माण हुआ है इसलिए इनके निमित्त क्रमशः रागादिक भाव व कुम्भकार हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्मों की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादिक परिणति हुई है इसलिए इस परिणति का उपादान कारण जीव स्वयं है और निमित्त कारण द्रव्य कर्म की उदयावस्था है अर्थात् पुद्गल द्रव्य जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कर्मभाव को प्राप्त होता है, इसी तरह जीव द्रव्य भी पुद्गलकर्मों के विपाककाल रूप निमित्त को पाकर रागादिभाव रूप परिणमन करता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीव, द्रव्य कर्म में किसी गुण का उत्पादक नहीं होता अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादि भाव को प्राप्त होता है। इसी तरह कर्म भी जीव में किन्हीं गुणों का उत्पादक नहीं अपितु मोहनीय आदि कर्म के विपाक को निमित्त पाकर जीव स्वयंमेव रागादि रूप परिणमन करता है। अतः 'जीव अपने भावों का कर्ता है पुद्गल कर्मकृत सब भावों का नहीं'[1] ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता पुद्गल है। इस प्रकार शुद्ध निश्चय की दृष्टि से वह परभाव का अकर्ता है पर अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से वह अपने अशुद्धभाव का कर्ता है। आत्म परिणामों के निमित्त से कर्मों को करने के कारण आत्मा व्यवहार नय से कर्ता कहलाता है।[2]

---

१. पंचास्तिकाय-६१; प्रवचनसार-६२; समयसार-१२६,

२. पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिकाटीका-२७

सांख्यसम्मत अकर्तृत्ववाद का खण्डन :—भारतीय दर्शनों में सांख्य ही एक ऐसा दर्शन है जो आत्मा को अकर्ता मानते हुये भी भोक्ता मानता है। सांख्यवादियों का मत है कि पुरुष अपरिणामी एवं नित्य है इसलिए वह कर्ता नहीं हो सकता; पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति के हैं इसलिये प्रकृति ही कर्ता है।[१] अन्य दार्शनिकों की तरह जैन-दार्शनिकों ने भी सांख्यों के इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुये कहा है कि यदि पुरुष अकर्ता है और पुरुष प्रकृति द्वारा किये गये कर्मों का भोक्ता है तो ऐसे पुरुष की परिकल्पना ही व्यर्थ है।[२] कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'यदि पुरुष को अकर्ता माना जाय और समस्त कार्यों को करने वाली जड़ प्रकृति को माना जाय तो प्रकृति हिंसा करने वाली होगी तथा वही हिंसक कहलायेगी, जीव असंग व निर्लिप्त है इसलिए जीव हिंसक नहीं होगा, ऐसी स्थिति में वह हिंसा के फल का भागी भी नहीं होगा। जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार प्रत्येक जीव अपने परिणामों से दूसरे की हिंसा करता है, फलतः वह जीव दूसरे की हिंसा के फल का भागी होता है।[३] इस प्रकार सांख्यमत में जड़ प्रकृति कर्ता हो जायेगी तथा सभी आत्मायें अकर्ता हो जायेंगी। जब आत्मा में कर्तृत्व नहीं रहेगा तब उसमें कर्मबन्ध का अभाव हो जायेगा। कर्म-बन्ध का अभाव हो जाने से संसार का अभाव हो जायेगा, एवं संसार न होने से आत्मा को सदा मोक्ष होने का प्रसंग आ जायेगा जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः सांख्य की तरह आचार्य कुन्दकुन्द आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता नहीं मानते क्योंकि भेदज्ञान के पूर्व अज्ञानदशा में आत्मा रागादिभावों का कर्ता है और भेद ज्ञान के अनन्तर वह एकमात्र ज्ञायक रह जाता है।

बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन :—आत्मकर्तृत्ववाद के प्रसंग में कुन्दकुन्दाचार्य ने क्षणिकवाद का खण्डन किया है। क्षणिकवादी बौद्धों के अनुसार 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इस सिद्धान्त के अनुरूप जो वस्तु जिस क्षण में वर्तमान है, उसी क्षण उसकी सत्ता है, ऐसा मानने पर

१. सांख्यकारिका-११, १९, २०, ५७, २६, ४७, ४९-ईश्वरकृष्ण सम्पा० त्रिपाठी, रमाशंकर, वाराणसी १९७०
२. श्रावकाचार- (अमितगति) ४।३५
३. समयसार-३३८-३९,

वस्तु के क्षणिक होने से, जो कर्ता है वही भोक्ता नहीं होगा क्योंकि वह तो उसी क्षण विनष्ट हो गया। इस प्रकार अन्य ही कर्ता और अन्य ही भोक्ता सिद्ध होगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मिथ्या है। कुंदकुंदाचार्य ने द्रव्य की पर्याय रूप अवस्थाओं को 'क्षणिक किंवा अनित्य' स्वीकार करके भी उन पर्यायों में सर्वदा विद्यमान रहने वाले गुण के कारण द्रव्य की नित्य सत्ता स्वीकार की है। यदि ऐसा माना जाय तो पर्यायार्थिक दृष्टि से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व के समय अन्य पर्याय का कर्तृत्व एवं अन्य पर्याय का भोक्तृत्व सम्भव है जैसे मनुष्य पर्याय में किये गये शुभकर्मों का फल देव पर्याय में होगा किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो मोतियों की माला में अनुस्यूत सूत्र के समान समस्त पर्यायों में द्रव्य अनुस्यूत रहता है अतः वही नित्य द्रव्य कर्ता एवं भोक्ता है।[1]

आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि निश्चय नय (शुद्ध निश्चय) से या पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा को कर्ता मानना मिथ्या है, ऐसा मानने वाले अज्ञानी हैं।[2] आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिए कारण भी नहीं है। कर्म की अपेक्षा कर्ता व कर्ता की अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते हैं—ऐसा नियम है। कर्ता व कर्म अन्य की अपेक्षा सिद्ध न होकर स्वद्रव्य की अपेक्षा ही सिद्ध होते हैं, अतः आत्मा-अकर्ता है।[3] आत्मा जो स्वभाव से शुद्ध तथा देदीप्यमान चैतन्यस्वरूप ज्योति के द्वारा जिसने संसार के विस्तार रूप भवन को प्राप्त कर लिया है—अकर्ता है[4]। अतः शुद्धनिश्चय नय की दृष्टि से आत्मा अकर्ता है। आत्मा में कर्तृत्वपन पर और आत्मद्रव्य के एकत्वाध्यास से होता है। 'अज्ञानी जीव भेद संवेदन शक्ति के तिरोहित हो जाने के कारण आत्मा को कर्ता समझता है। वह पर और आत्मा को एकरूप समझता है, इसी मिश्रित ज्ञान से आत्मा के अक-

१. समयसार—३४५-३४८

२. अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्ध स्वरसतः समयसार—३११ अमृतचन्द स्वामी कलश—१९४,

३. समयसार—३०८-३१०

४. वही, १९४

तृंत्व व एकस्वरूप विज्ञानघन से पथभ्रष्ट होकर आत्मा को कर्ता समझता है। आत्मा तो अनादिघन निरन्तर समस्तरसों से भिन्न अत्यंत मधुर एक चैतन्य रस से परिपूर्ण है। कषायों के साथ आत्मा का विकल्प अज्ञान से होता है, जिसे आत्मा व कषायों का भेदज्ञान हो जाता है, वह ज्ञानी आत्मा सम्पूर्ण कर्तृभाव को त्याग देता है, वह नित्य उदासीन अवस्था को धारणकर केवल ज्ञायक रूप में स्थित रहता है और इसी से निर्विकल्पक अकृत, एक, विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्त्ताप्रतिभासता है।'[1] अज्ञानान्धकार से युक्त जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे मोक्ष के इच्छुक होते हुए भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते।० अतः निश्चयनय या पारमार्थिक दृष्टि से कुन्दकुन्द आत्मा में कर्तृत्व नहीं मानते, वह तो आस, अरूप, अगंध सब प्रकार के लिंग आवृत्ति से रहित, अशब्द, अशरीरी, ज्ञायक स्वभाव एवं शुद्ध है।

आत्मा का भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व :—

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता एवं उनकर्मफलों का भोक्ता है। जिसप्रकार व्यावहारिक दृष्टि या व्यवहार नय से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता है उसी प्रकार वह पौद्गलिक कर्मजन्य फल सुख-दुःख एवं बाह्यपदार्थों का भोक्ता है। आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से विभिन्न पर्याय रूप उत्पाद एवं व्यय का परित्याग नहीं करता तबतक वह मिथ्यादृष्टि व असंयमी रहकर सुखदुःख का उपभोग करता रहता है। अवधेय है कि जैनदर्शन में आत्मा के भोक्तृत्व को सांख्य की तरह उपचार से भोक्तृत्व नहीं कहा गया है। सांख्यवादी पुरुष को उपचार से कर्म-फलों का भोक्ता मानते हैं[2], आचार्य कुन्दकुन्द ऐसा न मानकर आत्मा को व्यावहारिक स्तर पर वास्तविक रूप से भोक्ता मानते हैं।[3] सांख्यों के उपचार से भोक्ता कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुरुष भोक्ता

---

१. एदेण दुसो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं॥ समयसार–९७

२. एतेन विशेषणाद-उपचरित वृत्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमाना सांख्य-नाम् निरासः। षड्दर्शनसमुच्चय टीका-कारिका–४९।

३. पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका टीका–६८, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय–१०

नहीं है लेकिन बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख की छाया पुरुष में पड़ने लगती है यही उसका भोग है। उनके अनुसार भोगक्रिया वस्तुतः बुद्धिगत है परन्तु बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष[1] में भोग का उपचार होता है, जिसप्रकार स्फटिक मणि लालफूल के सान्निध्य के कारण लाल एवं पीले फूल के संसर्ग के कारण पीली दिखाई देती है[2] एवं फूल के हट-जाने पर अपने स्वच्छ स्वरूप में प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार चेतन पुरुष बुद्धि में प्रतिफलित होता है। जैनदार्शनिक सांख्य के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। चूंकि पुरुष अमूर्त्त है इसलिए एक तो उसका प्रति-बिम्ब नहीं हो सकता है, दूसरे पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने से पुरुष को यदि भोक्ता माना जाय तो मुक्त पुरुष को भी भोक्ता मानना पड़ेगा क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब भी बुद्धि में पड़ सकता है। यदि सांख्य भुक्त पुरुष को भोक्ता न स्वीकार करे तो तात्पर्यतः पुरुष ने अपना भोक्तृत्व स्वभाव छोड़ दिया है और ऐसा मानने पर आत्मा परिणामी हो जायेगा। अतः आत्मा उपचार रूप से भोक्ता नहीं बल्कि वह भोक्तृत्व के अर्थ में भोक्ता है, समयसार के अनुसार जीव का कर्म एवं कर्मफलादि के साथ निमित्त-नैमित्तिक रूपेण सम्बन्ध ही कर्ताकर्मभाव अथवा भोक्ता भोग्य व्यवहार है।[3]

आत्मा के अभोक्तृत्व की व्याख्या करते हुए समयसार में आचार्य ने कहा है कि प्रकृति के स्वभाव में स्थित होकर ही कर्मफल का भोक्ता है इसके विपरीत ज्ञानी जीव उदीयमान कर्मफल का ज्ञाता होता है भोक्ता नहीं[4]। वह अनेक प्रकार के मधुर, कटु, शुभाशुभ कर्मों के फल का ज्ञाता होते हुए भी अभोक्ता कहलाता है। जिस प्रकार नेत्र विभिन्न पदार्थों को देखता मात्र है, उनका कर्ता भोक्ता नहीं होता उसी प्रकार आत्मा बंध तथा मोक्ष को कर्मोदय एवं निर्जरा को जानता मात्र है,

---

१. व्यासभाष्य—पृ० २१४

२. कुसुमवच्च्यमणि :। सां० सू० २।३५

३. समयसार—३४५-३४८

४. भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृत : कर्तृत्व वच्चितः। अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावाद्वेदक :। समयसार—आत्म० टी० ९६

उनका कर्ता भोक्ता नहीं होता।[1] पुद्गल जन्य कर्मों का भोक्ता होते हुये भी ज्ञानी आत्मा उसी प्रकार कर्मों या तज्जन्य फलों से नहीं बंधता है जिस प्रकार वैद्य विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने अशुद्ध निश्चय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता एवं शुद्धनिश्चय नय की दृष्टि से अकर्ता व अभोक्ता कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य का मुख्य प्रयोजन संसारी जीवों के सम्मुख आत्मा के शुद्धस्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत करना था जिसके द्वारा जीव अनन्तगुणात्मक विशुद्ध आत्मा के स्वरूप को जान सके। इसीलिए उन्होंने आत्मस्वरूप को समझाने के लिए निश्चय एवं व्यवहार दोनों नय का सहारा लिया। जहाँ कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार नय के माध्यम से आत्मा की संसारी अवस्था का निरूपण किया है वहीं निश्चयनय के माध्यम से आत्मद्रव्य को पूर्णतः विशुद्ध तथा समस्त पर पदार्थों से पूर्णतः असम्बद्ध निर्दिष्ट किया है। शुद्धावस्था में आत्मा स्वचतुष्टय में लीन किसी कार्य का कर्ता-भोक्ता न होकर ज्ञाता-द्रष्टा मात्र होता है। व्यवहार नय के माध्यम से कुन्दकुन्दाचार्य का उद्देश्य यह दर्शाना है कि यद्यपि संसारी[3] आत्मा की अशुद्धावस्था जिसमें वह समस्त कर्मों का कर्ता-भोक्ता है, एक वास्तविकता है लेकिन यह आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रतिकूल है, क्योंकि यह आगन्तुक है इसीलिए हेय भी है। परन्तु उस विशुद्धावस्था को प्राप्त करने के लिये आत्मा की अशुद्धावस्था का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना शुद्धावस्था का। उन्होंने निश्चय-नय द्वारा आत्मा की शुद्धावस्था को उपादेय बताया है। पद्मप्रभु ने नय विवक्षा से आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा

१. समयसार–३१४-२०

२. वही, १९५

३. निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा के दो ही भेद हैं–मुक्त एवं संसारी– इन दोनों भेदों में ही भव्य, अभव्य, अशुभोपयोगी, शुद्धोपयोगी सबका समावेश हो जाता है, मोक्षपाहुड ५ में आचार्य ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा तीन भेद किए हैं।

आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता व तज्जन्यफलोपभोक्ता है। अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा समस्त मोह, राग-द्वेषरूप भावकर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से वह घटपटादि का कर्ता व भोक्ता है। निश्चय नय की दृष्टि से वह कर्ता-कर्म से परे एक मात्र ज्ञायक भाव एवं एक टङ्कोत्कीर्ण है एवं शुद्ध है। वे आचार्यशंकर की तरह आत्मा की अशुद्धावस्था को मिथ्या न मानते हुये[३] आत्मा की संसारी अवस्था को एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार करने से इन्कार नहीं करते। वे आत्मा के ज्ञाता द्रष्टापक्ष पर बल देते समय सांख्य के निकट व शुद्ध निश्चय नय पर बल देते समय वेदान्त के निकट खड़े दिखाई देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की व्यापक दृष्टि जैनदर्शन की परिधि में रहकर भी जैनेतर दर्शनों की परिधि को छू लेती है जो इस बात की सूचक है कि 'एक सत् विप्राबहुधावदन्ति' एवं जिज्ञासु केवल-मयं विदुषां विवादः' की घोषणाएं सत्य हैं।



भरतमुनि द्वारा प्राकृत को संस्कृत के साथ प्रदत्त सम्मान और गौरवपूर्ण स्थान

—डॉ० के० आर० चन्द्र

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में दो मत हैं, एक के अनुसार प्राकृत, संस्कृत से जन्मी और दूसरे के अनुसार संस्कृत, प्राकृत से जन्मी। इसी के बारे में यहाँ थोड़ी सी चर्चा की जा रही है।

वररुचि अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में मौन हैं। चण्ड अपने प्राकृतलक्षणम् में कहते हैं—प्राकृत तीन प्रकार से सिद्ध-प्रसिद्ध है—

(१) संस्कृत योनि वाली अर्थात् तद्भव शब्द, (२) संस्कृतसमं अर्थात् तत्सम शब्द और (३) देशी प्रसिद्धम् अर्थात् देश्य शब्द। इन तीन प्रकार के शब्दों से युक्त प्राकृत भाषा बतायी गयी है। उन्होंने इसकी उत्पत्ति के बारे में कुछ नहीं कहा है।

पू० आचार्य श्री हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के विषय में कहते हैं-(१) तत्र भवं तत्र आगतं वा प्राकृतम्, (२)...संस्कृत-योनेरेव तस्य लक्षणम् और (३) न देश्यस्य।

अर्थात्

(अ) देश्य के बारे में इधर कुछ नहीं कहा जा रहा है (३)

(ब) संस्कृत योनि वाले शब्दों के लक्षण दिये जा रहे हैं (२)

(क) इसमें जो शब्द (संस्कृत से) बने वे और इसमें (संस्कृत में) से जो आये अर्थात् तद्भव और तत्सम शब्द भी हैं (१)। यहाँ तक तो उनकी परिभाषा चण्ड के समान ही लगती है परंतु जब उन्होंने यह कहा कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है तब क्या समझना।

प्रकृतिः संस्कृतम्

विद्वानों की एक परम्परा इसका अर्थ यह करती है कि प्रकृति शब्द

और योनि शब्द से यह तात्पर्य लिया जाय कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई।

यदि इस प्रकार मान भी लिया जाय तो वररुचि के प्राकृत व्याकरण में इस सम्बन्ध में अन्य प्राकृत भाषाओं के लिए जो कुछ कहा गया है उसका समाधान क्या होगा ?

प्राकृत प्रकाश के अध्याय १०, ११ और १२ में कहा गया है—

(१) पैशाची १०.१, प्रकृतिः शौरसेनी १०.२

(२) मागधी ११.१, प्रकृतिः शौरसेनी ११.२

(३) शौरसेनी १२.१, प्रकृतिः संस्कृतम् १२.२

इन सूत्रों के अनुसार 'प्रकृति' शब्द का अर्थ वही लिया जाय जो हेमचन्द्राचार्य के सूत्र के सम्बन्ध में लिया जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि संस्कृत में से उत्पन्न भाषा तो शौरसेनी है, मागधी शौरसेनी में से उत्पन्न हुई और पैशाची भी शौरसेनी में से निकली।

इन सबका पुनः यह अर्थ हुआ कि शौरसेनी भाषा मागधी और पैशाची की जनयितृ होने के कारण उनसे पूर्ववर्ती काल की भाषा है। ऐसा मानना प्राकृत भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के क्रम की मान्यता के प्रतिकूल जाता है।

जब शौरसेनी संस्कृत में से निकली तो प्राकृत (महाराष्ट्री) फिर किसमें से उत्पन्न हुई ?

इस सन्दर्भ में यही मानना योग्य और उचित लगता है कि अलग-अलग प्राकृत भाषाओं के लक्षण समझाने के लिए किसी एक को दूसरी भाषा का मात्र आधार बनाया गया है जहाँ पर उत्पत्ति-स्रोत या जन्म-योनि का सवाल नहीं है। यह तो मात्र समझाने के लिए एक पद्धति अपनायी गयी है जहाँ उत्पत्ति का सवाल ही नहीं है।

इस सम्बन्ध में भरतमुनि का मन्तव्य भी जानना अनुचित नहीं होगा।

उन्होंने प्राकृत की उत्पत्ति, प्रकृति या योनि के बारे में तो कुछ नहीं कहा है। वे लिखते हैं कि नाटकों में दो ही पाठ्य भाषायें हैं, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत (भ० ना० शा० १७.१)।

प्राकृत संस्कारगुण से वर्जित होती है। उसमें समान शब्द

(तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी शब्द होते हैं। यह परिवर्तन (विपर्यस्त) युक्त होती है (१७.३)।

इस कथन के अनुसार एक भाषा संस्कारगुण से वर्जित है (प्राकृत) अर्थात् दूसरी भाषा संस्कार गुण वाली (संस्कृत) है।

इससे यह प्रश्न उठता है कि जिसको–संस्कारयुक्त बनाया गया, जिसे संस्कार दिया गया वह भाषा कौन सी है ? उत्तर होगा जो संस्कार रहित थी उसे ही संस्कारयुक्त बनाया गया अर्थात् प्राकृत को यानि प्रकृति को संस्कृत बनाया गया तब कौन सी भाषा पहले और कौन सी बाद में। स्पष्ट है कि जो प्रकृति की भाषा स्वाभाविक लोक-भाषा, जन-भाषा थी उसे ही संस्कार देकर संस्कृत बनायी गयी। यहाँ पर भाषा के किसी नाम विशेष से तात्पर्य नहीं है सिर्फ समझना इतना ही है कि असंस्कार वाली भाषा में से संस्कार वाली भाषा बनी।

संसार की सभी भाषाओं पर यही नियम लागू होता है। शिष्ट भाषा का उद्भव किसी एक लोक-भाषा से ही होता है और बाद में दोनों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है।

यदि संस्कृत ही योनि हो तो फिर जो नियम पू० हेमचन्द्राचार्य ने बनाये हैं वे उल्टे साबित नहीं होते हैं क्या ?

(१) सूत्र–८ ३.१५८

वृत्ति··· ··अकारस्य स्थाने एकारो वा भवति।

जैसे—हसइ का हसेइ, सुणउ का सुणेउ।

फिर आगे वृत्ति में कहा गया है कि—

'क्वचिदात्वमपि'

अर्थात् कहीं-कहीं अ का आ हो जाता है।

उदाहरणार्थ—सुणाउ (श्रुणातु)

इससे यह फलित होता है कि सुणउ से सुणाउ हुआ।

वास्तव में तो संस्कृत में जो 'आ' है उसके स्थान पर ही अ और ए प्राकृत में प्रचलित था। श्रुणातु = सुणाउ, सुणउ, सुणेउ।

यहाँ पर पू० हेमचन्द्र ने समझाने की जो पद्धति अपनायी है उससे संस्कृत को प्राकृत की योनि मानकर स्रोत के रूप में उसका अर्थ उचित नहीं ठहरता है।

अतः प्रकृति शब्द से उनका तात्पर्य 'जन्मदातृ' नहीं परन्तु समझाने के लिए 'आधार' ही फलित होता है।

(२) शौरसेनी में थ का ध होने के लिए एक सूत्र दिया है—

थो धः – ८.४.२६७

फिर बाद में इह के ह और द्वि० पु० ब० व० के वर्तमान काल के प्रत्यय ह का ध होना बतलाया है।

इह हधोः हस्य ८.४.२६८—उदाहरण—हो ध

यह तो संस्कृत 'भ व थ' का हो ध है अर्थात् थ का ही ध बना है। इसको संस्कृत से न समझाकर प्राकृत से ही समझाया है—अर्थात् संस्कृत में से प्राकृत की उत्पत्ति की उनकी मान्यता होती तो क्या वे ऐसा करते ?

(३) इह में से इध हुआ तो यह भी सही नहीं है मूल तो इध ही था उसमें से ही संस्कृत में इह बना है।

इस सन्दर्भ में पू० आ० श्री० हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रकृति' शब्द का अर्थ यही होता है कि प्राकृत भाषा को समझाने के लिए (अर्थात् तद्भव अंश के लिए) संस्कृत का आश्रय लिया जा रहा है, उसे आधार मानकर समझाया जा रहा है इससे अलग ऐसा अर्थ नहीं कि संस्कृत प्राकृत की जननी है या उसमें से उसकी उत्पत्ति हुई है।

भरतमुनि ने इसके अलावा प्राकृत को नाटकों में संस्कृत के समान ही दर्जा दिया है। उनके द्वारा यह कहा जाना कि नाटकों में दो ही पाठ्य भाषाएँ होती हैं संस्कृत के बारे में तो कह दिया अब प्राकृत के बारे में कहता हूँ—

एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः।
प्राकृतस्य नु पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।। (१७.१)

जिसे (प्राकृतको) अलग-अलग अवस्थाओं में अपनायी जानी चाहिए।

विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकं ११-१७.२

यही प्राचीन स्थिति है जब संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा को भी समान रूप में गौरव का पद प्राप्त था।

विभागाध्यक्ष, प्राकृत एवं पालि
गुजरात विश्वविद्यालय, गुजरात

पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति

—रीता बिश्नोई

"पाण्डव पुराण" आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक द्वारा वि० सं० १६०८ में रचित जैन पुराण है। इस ग्रन्थ में कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन जैन मान्यता के अनुसार किया गया है। जैन साहित्य में यह पुराण "जैन-महाभारत" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि आचार्य शुभचन्द्र ने महाभारत की कथा को लेकर ही इस पुराण की रचना की है तथापि इसमें वैदिक महाभारत की कथा से पद-पद पर भेद दृष्टिगोचर होता है। महाभारत कथा विषयक ग्रन्थ होने के कारण इस में स्थान-स्थान पर राजनीति सम्बन्धी बातें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। पाण्डव पुराण के अध्ययन से हमें पाण्डव पुराण में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के दर्शन होते हैं, पाण्डव पुराण में राजनीति सम्बन्धी जिन बातों की जानकारी मिलती है वे इस प्रकार हैं—

राज्य

पाण्डव पुराण के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त को सर्वाधिक बल मिलता है वह है सामाजिक समझौते का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीन काल से एक प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिये राजा या राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्राकृतिक व्यवस्था के विषय में पर्याप्त मतभेद है, कुछ इसे पूर्व सामाजिक तो कुछ पूर्व राजनैतिक अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक नियमों को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुये भी यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को त्यागने को विवश हुये और समझौते द्वारा राजनैतिक

समाज की स्थापना की[१]। पाण्डव पुराण के अनुसार इस अवस्था को त्यागने का कारण समयानुसार साधनों की कमी तथा प्रकृति में परिवर्तन होना था।[२] इन्हीं सङ्कटों को दूर करने के लिये समय-समय पर विशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों को 'कुलकर' कहा गया है।[३] इन्होंने हा, मा और धिक्कार ऐसे शब्दों का दण्ड रूप में प्रयोग करके लोगों की आपत्ति दूर की। राज्य की उत्पत्ति का मूल इन कुलकरों और इनके कार्यों को ही कहा जा सकता हैं।

राजा

राज्य में राजा का महत्त्व सर्वोपरि है। राजा के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। मनु के अनुसार बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल-विचल हो जाता है इस कारण सबकी रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया[४]। कामन्दक के अनुसार जगत् की उत्पत्ति एवं वृद्धि का एकमात्र कारण राजा ही होता है। राजा प्रजा के नेत्रों को उसी प्रकार आनन्द देता है जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र को आह्लादित करता है।[५] महाभारत में राजा को समाज का रक्षक बतलाते हुए कहा गया है कि प्रजा के धर्माचरण का मूल एकमात्र राजा होता है। राजा के डर से ही मनुष्य–समाज में शान्ति बनी रहती है राजा के अभाव में कोई वस्तु निरापद नहीं रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की सुव्यवस्था पर ही निर्भर होते हैं। राजा समाज का सञ्चालक होता है उसके अभाव में मनुष्य का जीवन दुःसाध्य हो जाता है[६]। पाण्डव पुराण में राजा के महत्त्व को बतलाते हुये कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। यदि राजा धर्माचरण करने वाला होता है तो प्रजा भी धर्म में स्थिर रहती है और यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पापी हो

---

१. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त (पुखराज जैन) पृ० १००-१०१
२. पाण्डव पुराण, २।१३९-१४२
३. वही, २।१०७
४. मनुस्मृति, ७।३
५. कामन्दक नीतिसार, १ ९
६. महाभारत शान्तिपर्व ६८ अध्याय

जाती है और यदि राजा समानवृत्ति का होता है तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है[१]। इससे स्पष्ट है कि राजा के आचार-विचार तथा गुण-दोषों का प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही पुत्र को राज्य-भार सौंप देते थे जिससे गृह-युद्ध की सम्भावना न रहे। निरपेक्ष राजा अपने जीते जी राज्य का उत्तराधिकारी किसी को नहीं बनाते थे। पाण्डव पुराण में प्रथम प्रकार के सापेक्ष राजाओं की स्थिति दृष्टि-गोचर होती है—आदिप्रभु द्वारा बाहुबली कुमार को पोदनपुर का राज्य तथा अन्य निन्यानबे पुत्रों को भिन्न-भिन्न देश का राज्य देना[२], राजा सोमप्रभः द्वारा अपने पुत्रों में समस्त राज्य विभक्त करना[३] आदि।

पाण्डव पुराण में राजा के निर्वाचन का आधार प्रमुख रूप से पितृ या वंशानुक्रम ही है।

राज्य व्यवस्था

राज्यशास्त्रों में राज्य को सप्ताङ्ग माना गया है। महाभारत के अनुसार सप्तात्मक राज्य की रक्षा यत्नपूर्वक की जानी चाहिये[४]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये सात राज्य के अङ्ग होते हैं[५] जिन्हें प्रकृति कहा जाता है, इनके अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इनमें सभी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में सभी का महत्त्व समान बताया गया है[६]।

---

१. पाण्डव पुराण, १७।२६०

२. वही, २।२२५

३. वही, ३।४

४. महाभारत शान्तिपर्व ६९।६४-६५

५. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ६.१.१

६. महाभारत शान्तिपर्व, ६९।४०

राज्य के जिन सात अङ्गों की बात मनु,[1] कामन्दक[2] और कौटिल्य[3] आदि ने की है वे सभी पाण्डव पुराण में पाये जाते हैं इनमें स्वामी अथवा राजा सर्वप्रमुख है।

अमात्य

भारतीय मनीषियों ने मन्त्रियों को बहुत महत्त्व दिया है। मन्त्रियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एवं स्थायित्व निर्भर है। कौटिल्य ने अमात्य का महत्त्व बताते हुये लिखा है कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य को सुचारु रूप में चलाने के लिये राजा को भी सचिव रूपी दूसरे पहिए की आवश्यकता होती है[4]। शुक्रनीति में कहा गया है कि चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो? फिर भी उसे मन्त्रियों के सलाह के बिना किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिये[5]। इसी प्रकार मनुस्मृति[6], याज्ञवल्क्य स्मृति[7], रामायण[8], महाभारत[9] आदि ग्रन्थों में अमात्य पद का महत्त्व वर्णित है। पाण्डव पुराण में अमात्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अमात्य राजा को नीतिपूर्ण सलाह देते थे इसलिये इन्हें "युक्तिविशारद"[10] कहा गया है। मन्त्री प्रायः राजा को प्रत्येक कार्य में सलाह देते थे। राजा अकम्पन ने पुत्री सुलोचना के लिये योग्य वर की खोज के लिये मन्त्रियों से सलाह की तथा सिद्धार्थ आदि सभी मन्त्रियों की सलाह से स्वयम्वर विधि का आयोजन किया[11]।

---

१. मनुस्मृति, ९।२९४
२. नीतिसार, ४.१२
३. अर्थशास्त्र, ६.१.१
४. वही, १.७.१५
५ शुक्रनीति, २.२
६. मनुस्मृति, ७.४५
७. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३१०
८. रामायण, अयोध्या काण्ड, १९७.१८
९. महाभारत सभापर्व, ५.२८
१०. पाण्डव पुराण, ४।१३१
११. वही, ३।३२-४०

इसी प्रकार राजा द्रुपद ने[1] तथा राजा ज्वलनवटी ने[2] अपनी-अपनी पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में मन्त्रियों से सलाह ली। मन्त्रीगण अनेक युक्तियों से राजा की रक्षा भी करते थे। किसी विद्वान् का अमोघजिह्वा नामक आदेश देने पर कि आज से सातवें दिन पोदपुराधीश के मस्तक पर वज्रपात होगा चित्तपुर राजा ने सभी मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया तथा युक्ति-निपुण सब मन्त्रियों ने सलाह करके राजा के पुतले को सिंहासन पर स्थापित करके राजा की रक्षा की थी[3]।

युद्ध क्षेत्र में भी मन्त्री राजा के साथ होते थे। जरासन्ध के सेनापति "हिरण्यनाभ" के युद्ध में मारे जाने पर मन्त्रियों की सलाह से जरासन्ध राजा, मेचक राजा को सेनापति नियुक्त करता है[4]।

पुरोहित

राष्ट्र की रक्षा के लिये पुरोहित को नियुक्त करना भी आवश्यक माना गया है। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को शास्त्र-प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नतशील षडङ्गवेत्ता, ज्योतिष शास्त्र, शकुन शास्त्र तथा दण्ड नीतिशास्त्र में अत्यन्त निपुण और दैवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ होना चाहिये[5]। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार पुरोहित को ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता, सब शास्त्रों में समृद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल तथा शान्ति कर्म में निपुण होना चाहिये[6]। मनु के अनुसार भी पुरोहित को ग्रह्य कर्म तथा शान्त्यादि में निपुण होना चाहिये[7]।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र में धर्म-प्रतिनिधि पुरोहित था। इस पद का महत्त्व वैदिक युग से ही रहा है। पुरोहित का अर्थ है—आगे स्थापित (पुर एवं दधति)[8]।

---

१. पाण्डव पुराण १५।५०-५१
२. वही, ४।१३
३. वही, ४।१३१-१३३
४. वही, १९।६६
५. कौटिल्य अर्थशास्त्र, १ अधिकार, प्रकरण ४. अध्याय ४, पृ० २४
६. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३.१३
७. मनुस्मृति, ७।७८
८. यास्क-निरुक्त २.१२

पाण्डव पुराण में पुरोहित को 'पुरोधः' कहा गया है वैसे तो पुरोहित धार्मिक सत्कार्य करने के लिये नियुक्त होते थे लेकिन राजा दुर्योधन के यहाँ एक ऐसे पुरोहित का उल्लेख भी आया है जो धन के लालच में आकर पाण्डवों के निवास लाक्षागृह को जलाने को तैयार हो जाता है[१]।

राजा युधिष्ठिर का धर्मोपदेश करने वाले पुरोहित के रूप में राजा विराट के यहाँ एक वर्ष तक (गुप्त रूप से) रहने का वर्णन भी आया है[२]।

सेनापति

राज्य के सप्ताङ्गों में सेनापति का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सेना की सफलता योग्य सेनापति के अधीन होती है। युद्ध-भूमि में वह सम्पूर्ण सेना का सञ्चालन करता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति को सेना के चारों अङ्गों के प्रत्येक कार्य को जानना चाहिये। प्रत्येक प्रकार के युद्ध में सभी प्रकार के शस्त्र-शास्त्र के सञ्चालन का परिज्ञान भी उसे होना चाहिये। हाथी-घोड़े पर चढ़ना और रथ सञ्चालन करने में अत्यन्त प्रवीण होना चाहिये। चतुरङ्गी सेना के प्रत्येक कार्य का उसे परिज्ञान होना चाहिये, युद्ध में उसका कार्य अपनी सेना पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के साथ ही साथ शत्रु की सेना को नियन्त्रित करना है[३]। महाभारत में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक माना गया है[४]। शुक्रनीति में भी[५] सेनापति के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। पाण्डव पुराण में सेनापति के मस्तक पर पट्ट बाँधने का उल्लेख आया है। चक्रवर्ती जरासन्ध के द्वारा मधुराजा के मस्तक पर चर्मपट्ट बाँधने[६], दुर्योधन द्वारा अश्वत्थामा

---

१. पाण्डव पुराण, १२।१३२-१३८
२. वही, १७।२४४
३. अर्थशास्त्र अधिकार २. प्रकरण ४९-५०. अध्याय ३३, पृ० २३७
४. महाभारत उद्योग पर्व १५।१९-२५
५. शुक्रनीति, २.४२२
६. पाण्डव पुराण, २०।३०४

के मस्तक पर वीरपट्ट बाँधने तथा किसी समय भरत चक्रवर्ती द्वारा जयकुमार के मस्तक पर वीरपट्ट बाँधकर[१] सेनापति पद दिये जाने का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सेनापति के पद पर अत्यधिक वीर, साहसी, गुणी एवं योग्य व्यक्ति नियुक्त किया जाता था।

दूत

दूत राज्य का अभिन्न अङ्ग है। प्राचीन समय से ही राजनीति में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महाभारत[२], मनुस्मृति[३] तथा हितोपदेश[४] में दूतों के गुणों का विशद वर्णन है। कौटिल्य ने दूत को राजा का गुप्त सलाहकार माना है। दूत प्रकाश में कार्य करता है जबकि गुप्तचर छिप कर। दूत शब्द का अर्थ है– सन्देशवाहक, जिससे स्पष्ट है कि किसी विशेष कार्य के सम्पादनार्थ ही दूत भेजे जाते थे। पाण्डव पुराण में दूत व्यवस्था का उल्लेख अधिक मिलता है। राजा अन्धकवृष्टि का पाण्डु व कुन्ती के विवाहार्थ व्यास राजा के पास दूत भेजने का[५], द्रुपद राजा का द्रौपदी स्वयंवर के लिये निमन्त्रण पत्रिकायें देकर दूतों को भेजने[६] चक्रवर्ती का यादवों के पास दूत भेजने[७] केशव का कर्ण के पास दूत भेजने[८] आदि अनेक उदाहरण पाण्डव पुराण में मिलते हैं।

गुप्तचर

गुप्तचर राजा की आँखे हैं इन्हीं के द्वारा वह राज्य की गतिविधियों को देखता रहता है। प्राचीन समय से ही गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने कार्यभेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किये हैं—कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदहेक, तापस, स्त्री, तीक्ष्ण,

---

१. पाण्डवपुराण २०।३०६
२. वही, ३।५९
३. महाभारत, उद्योगपर्व, ३७।२७
४. मनुस्मृति, ७।६३-६४
५. हितोपदेश विग्रह, १९
६. पाण्डव पुराण ८।१७
७. वही, १५।५३
८. वही, १९।३९

रसद एवं भिक्षु[1]। मनुस्मृति[2], याज्ञवल्क्यस्मृति[3], तथा महाभारत[4] में भी इनका महत्त्व प्रतिपादित है। पाण्डव पुराण में जरासन्ध के गुप्त पुरुषों द्वारा द्वारिका में रह रहे पाण्डवों की खोज कराने का उल्लेख मिलता है[5]।

राष्ट्र-रक्षा

दुर्ग, प्राकार एवं परिखा

शत्रुओं के आक्रमण से नगर एवं राजा की रक्षा के लिये प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर एक ऊँची सुदृढ़ दीवार बनायी जाती थी जिसे प्राकार कहा जाता था। पाण्डव पुराण में अत्यधिक ऊँचे प्राकार बनाने का उल्लेख आया है। हस्तिनापुर नगर के प्राकार के शिखरों पर ताराओं का समूह जड़े हुये मोतियों के समान सुशोभित हो रहा था[6]। इस वर्णन से ही इस प्राकार की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। नगर की सुरक्षा के लिये उनके चारों ओर परिखा या खाई खोदी जाती थी। हस्तिनापुर नगर की खाई शेषनाग के द्वारा छोड़ी हुई विष पूर्ण, मणियुक्त और भय दिखाने वाली मानों काञ्चन ही प्रतीत होती थी[7]। एक अन्य स्थान पर चम्पापुरी नगर की खाई की तुलना पाताल की गहराई से की गयी है[8]। शत्रु के आक्रमण के समय नगर-द्वार को बन्द करने का वर्णन भी आया है[9]। पाण्डव पुराण में दुर्ग का उल्लेख कही नहीं आया है। पतञ्जलि के अनुसार दुर्ग बनाने के लिये

---

१. अर्थशास्त्र, १।१०
२. मनुस्मृति, ७।६६
३. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३२७
४. महाभारत ६.३६.७.१३
५. पाण्डव पुराण, १९।२६
६. वही, २।१८५
७. वही, २।१८६
८. वही, ७।२७०
९. वही, २१।१३०

ऐसी भूमि ढूढ़ी जाती थी, जिसमें परिखा बन सके[1]। क्योंकि पाण्डव पुराण में परिखा का वर्णन मिलता है इससे स्पष्ट है कि दुर्ग भी अवश्य रहे होंगे। उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सेना

किसी भी राज्य के आधार कोष एवं सेना माने गये हैं। राजा की शक्ति सैन्यबल से ही प्रभावशाली बन पाती है। प्राचीन काल से ही राजशास्त्र-प्रणेताओं ने बल का महत्त्व स्वीकार किया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को दो प्रकार के कोपों से भय रहता है पहला—आन्तरिक कोप, जो अमात्यों के कोप से उत्पन्न होता है, दूसरा बाह्य कोप, जो राजाओं के आक्रमण का है। इन दोनों कोपों से रक्षा सैन्यबल से ही हो सकती है। पाण्डव पुराण में चतुरङ्गिणी सेना (बल) का उल्लेख अनेक स्थानों पर आता है। चतुरङ्ग बल के अन्तर्गत हस्ति-सेना, अश्व-सेना, रथ-सेना तथा पदाति-सेना आती है। राजा श्रेणिक महावीर प्रभु के दर्शनार्थ वैभार पर्वत पर चतुरङ्ग सेना के साथ पहुँचते हैं[2]। इसी प्रकार राजा पाण्डु वन क्रीड़ा के लिये चतुरङ्ग सेना के साथ वन में प्रस्थान करते हैं[3]। युद्ध-क्षेत्र में तो शत्रु राजाओं से युद्ध करते समय चतुरङ्गिणी सेना का प्रयोग होता था लेकिन सुलोचना के स्वयम्बर में जयकुमार के वरण करने पर अर्ककीर्ति कुमार तथा जयकुमार के बीच हुये युद्ध में भी चतुरङ्ग सेना का उल्लेख आया है[4]। इसी प्रकार द्रौपदी स्वयम्वर के समय पाण्डव-कौरवों के बीच हुये युद्ध में चतुरङ्ग सेना का वर्णन आया है[5]। इससे स्पष्ट है कि राजा लोग हर समय युद्ध के लिए तैयार रहते थे तथा सेना हमेशा सुसज्जित एवं तत्पर होती थी।

---

१. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ३८१

२. पाण्डव पुराण, १।१०५

३. वही, ९।२-६

४. वही, ३।८१-८४

५. वही, १५।१३०-१३१

चतुरंग सेना के अतिरिक्त पाण्डव पुराण में विद्याधर सेना[१] तथा अक्षौहिणी सेना[२] का उल्लेख भी आया है।

युद्ध-प्रणाली

पाण्डव पुराण में प्राप्त युद्ध सम्बन्धी वर्णन प्राचीन काल से चली आ रही धर्मयुद्ध की परम्परा के हैं। पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णनों से स्पष्ट है कि प्रायः रात्रि में युद्ध रोक दिया जाता था[३] लेकिन बीसवें पर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि योद्धागण रात्रि में और दिन में हमेशा लड़ते रहते थे और जब उन्हें निद्रा आती थी तब वे रण-भूमि में ही इधर-उधर लुढ़कते थे और सो जाते थे फिर उठकर लड़ते थे और मरते थे[४]। युद्ध के समय उचित-अनुचित, मान-मर्यादा का पूरा ध्यान रखा जाता था। युद्ध-भूमि में द्रोणाचार्य के उपस्थित होने पर अर्जुन शिष्य का गुरु के साथ युद्ध करना अनुचित बतलाते हैं तथा मर्यादा का पालन करते हुये, गुरु के कहने पर भी वे गुरु से पहला वाण छोड़ने को कहते हैं[५]। पितामह भीष्माचार्य के युद्ध भूमि में पृथ्वी पर गिर पड़ने पर दोनों पक्षों के सभी राजा रण छोड़कर आचार्य के पास आ जाते हैं[६]। इससे स्पष्ट है कि वड़ों का मान-सम्मान युद्ध-भूमि में भी किया जाता था।

पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णनों में प्रायः अनेक प्रकार के दिव्यास्त्रों-के प्रयोग का उल्लेख आया है। उदाहरणार्थ—शासन देवता से प्राप्त नागवाण[७], उत्तम दैवी गदा[८], जलबाण, स्थलबाण तथा नभश्चर वाण[९]। विद्या के बल से भी युद्ध किया जाता था। इस सन्दर्भ में

१. पाण्डव पुराण ३।१०४
२. वही, १८।१७०, १९।४५, १९।९६.
३. वही, २०।३८, १९।१९६
४. वही, २०।२४१
५. वही, १८।१३१-१३४
६. वही, १९।२५१
७. वही, २०।१७६
८. वही, २०।१३३
९. वही, २०।२८३

माहेश्वरी विद्या[1], बहुरूपिणी, स्तंभिनी, चक्रिणी, शूला, मोहिनी[2], भ्रामरी आदि का उल्लेख युद्ध वर्णनों में पाया जाता है।

पाण्डव पुराण में युद्ध वर्णनों का बाहुल्य है। कवि के युद्ध वर्णन का कौशल अद्वितीय है। युद्ध वर्णनों के पठन अथवा श्रवण मात्र से ही युद्ध की भीषणता का दृश्य आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ—अर्जुन के द्वारा गिराये हुये भग्न रथों से मार्ग रुक गया तथा जिनकी शुण्डायें टूट गयी हैं और जो दुःख से चिंघाड रहे हैं ऐसे हाथियों से मार्ग व्याप्त हुआ। रणभूमि में मस्तक रहित शरीर नृत्य करने लगे तथा उनके मस्तकों द्वारा भूमि लाल हो गयी। अगाध समुद्र में तैरने के लिये असमर्थ मनुष्य जैसे उसमें कहीं भी स्थिर नहीं होते वैसे ही योद्धाओं के रक्त के प्रवाह में तैरने वाले मानव कहीं भी नहीं ठहर सके[3]।

युद्ध के प्रारम्भ में रण सूचक वाद्य बजाये जाते थे इनमें रणभेरी[4], पाञ्चजन्य शंख[5], देवदत्त शंख[6], दुन्दुभि[7], आदि का उल्लेख आया है। सैन्य में हुये शकुन तथा अपशकुन पर भी विचार करने का उल्लेख पाण्डव पुराण में आया है। मगधपति जरासन्ध के सैन्य में अनेकों दुर्निमित्त हुये जो कि जय के अभाव को सूचित करते थे तब दुर्योधन ने अपने कुशल मन्त्री को बुलाकर इन सब दुर्निमित्त के बारे में विचार किया था[8]।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था के बारे में पाण्डव पुराण में विशेष उल्लेख नही आया है एक स्थान पर केवल इतना कहा गया है कि

---

१. पाण्डव पुराण, २०।३०८
२. वही, २०।३३०
३. वही, २०।१११-११३
४. वही, ३।८१, १९।३२
५. वही, १९।७७, २०।१६४
६. वही, २१।१२७
७. वही, १५।१२९
८. वही, १९।८२-८५

श्रीवर्मा राजा ने अपने चार ब्राह्मण मन्त्रियों को, जो कि अकम्पनाचार्य के संघ को तथा श्रुतसागर मुनि को मारने के लिये उद्यत हुये थे, गधे पर बैठा कर तथा उसके मस्तकों को मुड़वाकर दण्ड स्वरूप उन्हें नगर से बाहर निकाल दिया था[१]। इसके अतिरिक्त कहीं पर भी न्याय व दण्ड विधान का कोई भी उल्लेख नहीं आया है।

●

२१, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर,
पिन० २५१ ००१, (उ० प्र०)

१. पाण्डव पुराण, ७।४९-५०

इषुकारीय अध्ययन (उत्तराध्ययन) एवं शान्तिपर्व (महाभारत) का पिता-पुत्र संवाद

डा० अरुण प्रताप सिंह

उत्तराध्ययन, जैनागम साहित्य का एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। द्वादशांगों में न होते हुए भी अपनी प्राचीनता, विषय-वस्तु एवं कथानक के दृष्टिकोण से उनसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैन परम्परा में उत्तराध्ययन का वही महत्त्व है जो वैदिक परम्परा में गीता तथा बौद्ध परम्परा में धम्मपद का है। इसमें निहित आध्यात्मिक उपदेशों की शैली सरल एवं सुबोध है एवं इनमें साम्प्रदायिक अभिनिवेशों का पूर्णतया अभाव है। इसमें संकलित उपदेश श्रेष्ठ मानवीय गुणों से युक्त हैं। संन्यास मार्ग के अभिलाषी साधक में किन-किन गुणों/विचारों का होना आवश्यक है, इसका संक्षिप्त पर सम्पूर्ण वर्णन उत्तराध्ययन में निहित है।

इसमें कुल ३६ अध्ययन हैं। इसका १४वाँ अध्ययन "इषुकारीय" नाम से प्रसिद्ध है। इषुकार एक नगर एवं वहाँ के राजा का नाम है। यह नाम काल्पनिक प्रतीत होता है क्योंकि इसकी यथार्थता का कोई साक्ष्य हमें प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु इसका कथानक हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है और हमारे विचार का केन्द्र इषुकारीय अध्ययन में वर्णित वैराग्य-तत्पर पुत्रों का अपने पिता के साथ सम्वाद है। इसमें पुत्र तो संन्यास ग्रहण करना चाहते हैं किन्तु पिता उन्हें सांसारिक कार्यों को पूर्ण करने के पश्चात् ही ऐसा करने का उपदेश देते हैं। सामान्यतः संन्यासमार्गी परम्परा के ग्रन्थों में ऐसे कथानकों का होना आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि दृष्टान्तों द्वारा ही अपने मत की पुष्टि की जाती है। आश्चर्य तब होता है जब एक ही कथानक दो भिन्न-मार्गी परम्परा के ग्रन्थों में प्राप्त हो। उत्तराध्ययन का कथानक ठीक इसी प्रकार महाभारत के शान्ति पर्व के २७७वें अध्याय में है।

तत्सम्बद्ध शान्ति पर्व एवं इषुकरीय अध्ययन के विवरणों में न केवल भावों में अपितु भाषा तक में समानता परिलक्षित होती है। कुछ श्लोक तो, यदि उनका छायानुवाद कर दें, पूर्णतया समान प्रतीत होते हैं।

संन्यासाभिलाषी पुत्र को महाभारत में "मोक्षधर्मविचक्षण"[१] अर्थात् मोक्षधर्म के ज्ञान में कुशल कहा गया है। पुत्रों के लिए प्रयुक्त विशेषण महाभारत एवं उत्तराध्ययन में लगभग समान हैं। उत्तराध्ययन में पुत्रों को काम-भोगों से अनासक्त, मोक्षाभिलाषी एवं श्रद्धा सम्पन्न कहा गया है।[२] इसी प्रकार पिता के गुणों का वर्णन भी दोनों ग्रन्थों में समान ही हुआ है। महाभारत में पिता को स्वाध्यायपरायण परन्तु मोक्ष धर्म में अकुशल कहा गया है।[३] उत्तराध्ययन में पिता को यज्ञ-यागादि कर्म में संलग्न ब्राह्मण तथा पुरोहित कहा गया है[४]। उसका यज्ञ-यागादि कर्मों में निष्णात होना स्थान-स्थान पर वैदिक कर्म-काण्डों का उदाहरण देते हुए निर्दिष्ट किया गया है। दोनों ग्रन्थों के उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण पिता कर्मकाण्ड का प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी मोक्ष मार्ग से अपरिचित है।

पुत्रों द्वारा संन्यास-धारण करने के लिए आज्ञा मांगने पर पिता के प्रत्युत्तर के प्रसंग विचारणीय हैं। महाभारत में मनुष्यों की आयु के तीव्र गति से क्षीण होते जाने का दृष्टान्त देकर पिता से पुत्र उचित धर्म के पालन का मार्ग पूछता है[५]। उत्तराध्ययन में भी पुत्र

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व, २८७।३ (प्रका०-गीता प्रेस, गोरखपुर)

२. ते कामभोगेसु असज्जमाणा,
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा"
—उत्तराध्ययन, १४।६ (स०-साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२).

३. "स्वाध्यायकरणे रतं मोक्षधर्मेष्वकुशलं"
—शान्तिपर्व, २७७।४.

४. "माहणस्स सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स" —उत्तराध्ययन, १४।५.

५. शान्ति पर्व, २७७।५

जीवन की क्षणिकता के विषय में पिता से वार्तालाप करता है तथा मुनि धर्म अंगीकार करने के लिए उनसे अनुमति मांगता है[१]। इस सन्दर्भ में पिता का उत्तर उसके कर्मकाण्डी पण्डित होने का स्पष्ट प्रमाण है यह सन्दर्भ दोनों ग्रन्थों में समान रूप से प्राप्त है। महाभारत के अनुसार पिता पुत्र को सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करने, वेदाध्ययन करने, तदुपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पुत्रोत्पादन करने फिर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश और अन्त में मुनि (संन्यासी) बनने का उपदेश देता है।[२] उत्तराध्ययन में भी महाभारत के सदृश पिता पुत्रों को सर्वप्रथम वेदों का अध्ययन कर कामभोगों का सुख भोगने और अन्त में अपने पुत्रों को घर का दायित्व सौंपकर संन्यासी बनने का उपदेश देता है।[३] यह उपदेश सुनकर पुत्र उनको मृत्यु की यथार्थता समझाते हैं कि मृत्यु किसी के कहने से एक क्षण भी नहीं रुक सकती अतः कल्याण साधन में रत पुरुष को एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए[४]। जिस कार्य को कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिए क्योंकि मृत्यु कार्य के पूर्ण होने की प्रतीक्षा नहीं करती[५]। महाभारत का यह भाव उत्तराध्ययन में यथावत् विद्यमान है, इसमें भी लोक को मृत्यु से आहत बताया गया है। दोनों ग्रन्थों में भावों की ही नहीं अपितु भाषा की भी समता दर्शनीय है।

अब्भाहयंमि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं
गिहंसि न रइं लभे ॥ उत्तरा० १४/२१

---

१. उत्तराध्ययन, १४।७

२. अधीत्य वेदान् ब्रह्मचर्येषु पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनाय पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ —शान्तिपर्व, २७७।६

३. अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥
—उत्तरध्ययन, १४।९

४. शान्ति पर्व, २७७।१०

५. वही, २७७।१३

एवमभ्याहते लोके सर्वतः परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ।।

—शान्ति पर्व, २७७/७

(ख) केण अब्भाहओ लोगो ? केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा वुत्ता ? जाया ! चिंतावरो हुमि

—उत्तरा० १४।२२

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम ।।

—शान्ति पर्व, २७७।८

(ग) मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता एवं ताय ! वियाणह ।।

—उत्तरा० १४।२३

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्ती मे तच्च कस्मान्न बुद्धचसे ।।

—शान्ति पर्व, २७७।९

अन्त में पुत्र संन्यास मार्ग का अनुसरण करता है । महाभारत के अनुसार अपना अन्तिम निर्णय सुनाते हुए पुत्र कहता है कि वह काम और क्रोध को त्यागकर अहिंसा धर्म का पालन करेगा तथा अमर की भाँति मृत्यु को दूर हटा देगा[1] । इसी प्रकार उत्तराध्ययन में भी पुत्र राग को दूर कर श्रद्धा युक्त मुनि धर्म स्वीकार करने का अपना निर्णय सुनाता है ताकि उसे पुनः इस संसार में जन्म न लेना पड़े अर्थात् वह अमर हो जाय ।[2] । पिता भी पुत्र के तर्कों से सहमत हो उनका अनुसरण करते हुए संन्यास मार्ग का पथिक बन जाता है । इसकी सूचना हमें महाभारत एवं उत्तराध्ययन दोनों से होती है ।[3]

हमने देखा कि उत्तराध्ययन एवं शान्ति पर्व के इन दोनों अध्ययनों में कितनी अधिक समानता है । यही नहीं, इन दोनों ग्रन्थों में उक्त अध्ययनों के उत्तरवर्ती अध्ययनों में भी अद्‌भुत समानता दिखाई देती है । शान्ति पर्व के २७८वें अध्ययन में मुनि (संन्यासी) के

---

१. शान्ति पर्व, २७७।३०

२. उत्तराध्ययन, १४।२८

३. वही, १४।३७; शान्तिपर्व, २७७।३९.

स्वभाव, आचरण एवं कर्त्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन का १५वाँ अध्ययन सभिक्खुयं-भिक्षु के आचरण एवं कर्त्तव्यों से सम्बन्धित है। दोनों में समान रूप से निर्दिष्ट है कि मुनि या संन्यासी कौन हो सकता है? उसके क्या कर्त्तव्य हैं। मुनि-संन्यासी लाभ और हानि में समान भाव से स्थिर रहता है तथा भोगों के उपलब्ध रहने पर भी वह उनमें लिप्त नहीं होता। सच्चा संन्यासी वही है जो दूसरों के दोषों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कहीं चर्चा नहीं करता[१]। मुनि निःस्पृह तथा समदर्शी होता है; जीवन-निर्वाह के लिए जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष करता है, वह मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है[२]। जो साधारण लाभ की इच्छा नहीं करता, अन्न का दोष या गुण बताकर उसकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करता, जो किसी उपसर्ग से व्यथित नहीं होता तथा अज्ञातभाव से रहकर आत्मचिन्तन करता है—उसे ही सच्चा भिक्षु या संन्यासी कहा गया है[३]।

भिक्षावृत्ति जैन भिक्षु के लिए अनिवार्य है। जैन ग्रन्थों में भिक्षा कब, क्यों और कैसे ग्रहण करनी चाहिए—इसका विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन एवं जैन परम्परा के अन्य ग्रन्थों में दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षु को भिक्षा मांगने का निर्देश दिया गया है। शान्ति पर्व में भिक्षा माँगने का जो समय बताया गया है वह जैन परम्परा के पूर्णतः अनुकूल है। शान्ति पर्व में यह बताया गया है कि जब रसोईघर से धुँआ निकलना बन्द हो जाय, अनाज आदि कूटने के लिए मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हे की आग ठण्डी पड़ जाय, घर के लोग भोजन कर चुके हों, बर्तनों का संचार अर्थात् बर्तनों का इधर-उधर ले जाया जाना बन्द हो जाय, उस समय संन्यासी/मुनि को भिक्षा मांगनी चाहिए।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन के इषुकारीय एवं शान्ति पर्व के पिता-पुत्र सम्वाद एवं इनके बाद के अध्ययनों में कितनी अधिक

१. शान्तिपर्व, २७८।३४; उत्तराध्ययन, १५।२
२. वही, २७८।१६; वही, १५।१६
३. वही, २७८।१०-१३; वही, १५।४,५,१२
४. विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः॥ —शान्तिपर्व, २७७।९.

समानता है। यह समानता दो भिन्न मार्गी परम्परा के ग्रन्थों में प्राप्त होती है जो सामान्य पाठक को आश्चर्य में डाल देती है। समानता से यह प्रश्न उठ सकता है कि किस परम्परा ने किससे लिया। परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में ऐसा समुचित उत्तर सम्भव नहीं है जिसके आधार पर हम एक को पूर्ववर्ती एवं दूसरे को उत्तरवर्ती सिद्ध कर सकें। जहाँ तक महाभारत का प्रश्न है, इसका कथानक तो अवश्य ही प्राचीन है, परन्तु इसका लिखित रूप एवं संपादन कार्य बाद का है। इतिहासकारों की यह धारणा है कि इसका अन्तिम सम्पादन प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व या उसके आस-पास की घटना है। यही बात उत्तराध्ययन के विषय में भी कही जा सकती है। उत्तराध्ययन जैन परम्परा में अंगों के बाद आता है परन्तु इसके कुछ कथानक अंगों के समान ही प्राचीन हैं। जहाँ तक इसके अन्तिम सम्पादन का प्रश्न है, वह भी प्रथम शताब्दी ईस्वी के लगभग ही है।

मेरे विचार से यह कथानक महाभारत एवं उत्तराध्ययन दोनों से प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ने एक ही मूल स्रोत से ग्रहण किया। दोनों कथानकों में कोई विशेष अन्तर नहीं है और जैसा हमने देखा दोनों में भावों की ही नहीं अपितु भाषा की भी समानता है। महाभारत में इस कथानक को "पुरातनम्" कहा गया है।[1] यही बात उत्तराध्ययन में भी कही गई है। यहाँ इस कथानक के लिए "पुरे पुराणे उसुयारनामे" कहा गया है[2]। स्पष्टतः दोनों परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि यह कथानक किसी प्राचीन स्रोत से लिया गया है।

दोनों ही कथानकों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त हैं। महाभारत का उपदेश किसी भी जैन मुनि के लिए पालनीय हो सकता है। इसी प्रकार सच्चे भिक्षु का जो वर्णन उत्तराध्ययन में है, वह किसी भी वैदिक परम्परा के संन्यासी के लिए पालनीय है।

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास
एस० बी० डिग्री कालेज, सिकन्दरपुर, बलिया

१. वही, २७७।२.
२. उत्तराध्ययन, १४।१.

जैन भाषादर्शन की समस्यायें

(शोध-प्रबंधसार)

—श्रीमती अर्चनारानी पाडेण्य

भाषा-दर्शन समकालीन दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। आज का दार्शनिक चिन्तन बहुत कुछ भाषा दर्शन की समस्याओं से जुड़ा हुआ है। सामान्यतया आज के पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन के क्षेत्र में इसे अपना मौलिक अवदान मानते हैं। किन्तु भाषा-दर्शन सम्बन्धी यह चिन्तन भारत में आज से २००० वर्ष पूर्व भी उपस्थित था। भारतीय दर्शन का वैयाकरण सम्प्रदाय और किसी सीमा तक मीमांसक सम्प्रदाय भी, भाषा और शब्द सम्बन्धी विविध समस्याओं को सुलझाने में प्राचीन काल से ही प्रयत्नशील था। उनके चिन्तन का ही यह परिणाम था कि वाक्यपदीय जैसे भाषा दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थ अस्तित्व में आये। न केवल वैयाकरण और मीमांसक भाषा दर्शन की समस्याओं से जूझ रहे थे, अपितु बौद्ध और जैन विचारक भी अपने ढंग से इन समस्याओं को सुलझाने में लगे थे। वैयाकरणों के स्फोटवाद के स्थान पर बौद्धों ने अपोहवाद की स्थापना करके भाषा सम्बन्धीं दार्शनिक चिन्तन को एक नई दिशा दी थी।

इस क्षेत्र में जैन दार्शनिक भी पीछे नहीं थे। प्राचीन जैन आगम "प्रज्ञापना सूत्र" में भाषा की उत्पत्ति कैसे होती है? उसकी व्यापकता क्या है? भाषायी कथनों का सत्यता से क्या सम्बन्ध है? सत्यता और असत्यता की दृष्टि से भाषा कितने प्रकार की हो सकती है, इसकी विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने स्फोटवाद; अपोहवाद, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, शब्द की नित्यता का प्रश्न, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध आदि भाषा दर्शन की समस्याओं को लेकर गहन चिन्तन किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र तथा तत्त्वार्थ की अनेक टीकाओं में इन सभी प्रश्नों पर विचार सामग्री उपलब्ध होती है। सत्रहवीं शताब्दी में यशोविजय ने भाषारहस्य

नामक ग्रन्थ लिखकर भाषा दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर जैन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया था।

नैतिक, धार्मिक, उपदेश आदेशात्मक कथन आदि सत्य और असत्य की कोटि से परे हैं। इस तथ्य का उद्घोष पाश्चात्य दार्शनिक बड़े गर्व से करते हैं और इसे अपनी मौलिक खोज मानते हैं। किन्तु आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व जैन चिन्तकों ने प्रज्ञापना आदि अनेक प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में भाषा की सत्यता के चार प्रारूपों का निश्चय कर यह बता दिया था कि कुछ भाषायी कथन ऐसे भी होते हैं जो सत्य और असत्य की कोटि से परे होते हैं। उसमें उन्होंने आमन्त्रणी, निमन्त्रणी, उपदेशात्मक, आदेशात्मक आदि १२ प्रकार के भाषा के कथनों को सत्य और असत्य की कोटि से परे बताया था। जिन तथ्यों को हमारे समकालीन दार्शनिक अपने मौलिक चिन्तन के नाम पर प्रस्तुत करते हैं, वे तथ्य आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व चर्चित हो चुके थे। किन्तु दुर्भाग्य है कि हमारे दार्शनिक इससे अपरिचित हैं। भारत में भाषा-दर्शन की परम्परा कितनी महान और गम्भीर है, यह बताने की दृष्टि से ही मैंने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रणयन किया, क्योंकि, इस दिशा में अभी तक महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों का अभाव ही था।

यद्यपि प्रो० गौरीनाथ शास्त्री और प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय ने सर्व प्रथम भारतीय भाषा चिन्तन पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में जैन दार्शनिकों के भाषा दर्शन के क्षेत्र में दिये गये अवदान की उपेक्षा ही रही एवं उसके साथ कोई न्याय नहीं हो सका। यद्यपि जैन भाषा-दर्शन पर सर्वप्रथम पाटण में डॉ० सागरमल जैन ने अपने तीन व्याख्यान दिये थे और वे व्याख्यान संशोधित और परिवर्धित होकर एक लघुकाय पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी हुये किन्तु वह एक प्रारम्भिक प्रयत्न ही था। उन्हीं की प्रेरणा और मार्गदर्शन को लेकर मैंने प्रस्तुत शोध निबन्ध का प्रणयन किया है।

प्रस्तुत शोध निबन्ध छः अध्याओं में विभक्त है। प्रथम अध्याय में हमने मानव व्यवहार में भाषा का स्थान एवं महत्त्व, भारतीय चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास और भारतीय भाषा दर्शन की प्रमुख समस्याओं की चर्चा की है। इसी प्रसंग में वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक और बौद्धों के दृष्टिकोणों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है तथा

यह बताया गया है कि जैन भाषा-दर्शन की प्रमुख समस्या क्या है? और जैनों का भाषा दर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट अवदान क्या है? इस अध्ययनमें हमें जैनाचार्यों की जो विशेषता देखने को मिली वह यह कि उन्होंने भाषा-दर्शन के क्षेत्र में परस्पर विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया और यह विशेषता मुख्य रूप से उनकी अनेकान्तिक दृष्टि का ही परिणाम है।

दूसरे अध्याय में भाषा और लिपि के विकास के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। इस सम्बन्ध में भाषा की उत्पत्ति को लेकर पूर्व और पश्चिम के अनेक मतों की समीक्षा करते हुए अन्त में यह बताया गया है कि जैनों का मत क्या है? वह कितना वैज्ञानिक है? भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ-साथ लिपि के विकास पर भी चर्चा की गयी है और इस सन्दर्भ में जैन आगम साहित्य में क्या निर्देश है, उसे भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इस अध्याय में शब्द का स्वरूप, शब्द के प्रकार तथा शब्द के वाच्यार्थ तथा वाच्यार्थ बोध एवं ज्ञान प्रक्रिया की चर्चा भी हमने की है। इस सन्दर्भ में जैनों का विशिष्ट अवदान यह है कि शब्द को वर्णात्मक न मानकर ध्वन्यात्मक माना और इस आधार पर शब्द को आकाश का गुण न बताकर पुद्गल की पर्याय बताया। शब्द पौद्गलिक है यह जैनों की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। इसी अध्याय में हमने इस तथ्य को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शब्द के श्रवण से वाच्यार्थ का ज्ञान किस प्रकार होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा अध्याय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर है। ज्ञातव्य है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर मीमांसक तथा बौद्धों का दृष्टिकोण अलग है। जहाँ मीमांसक शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं वहाँ बौद्ध इन दोनों के मध्य सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं। जैनों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में समन्वयात्मक है। जैनों के अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं है, परन्तु वाच्य वाचक सम्बन्ध अवश्य है। अग्नि शब्द को सुनकर जलन की अनुभूति तो नहीं होती, परन्तु अग्नि नामक पदार्थ का बोध अवश्य होता है। इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं मानेंगे, तब भाषा

व्यवहार असम्भव हो जायेगा। इस अध्याय में हमने इस सम्बन्ध में भी विचार किया है कि शब्द का वाच्य जाति है या व्यक्ति ? जहाँ मीमांसक शब्द का वाच्य जाति मानते हैं वहाँ बौद्ध शब्द का वाच्य व्यक्ति को मानते हैं। यद्यपि नैयायिकों ने इन दोनों विरोधी मतों का समन्वय करके जाति विशिष्ट व्यक्ति मत को स्वीकार किया था किन्तु जैन दार्शनिक उनसे भी एक कदम आगे बढ़कर यह कहते हैं कि जाति से व्यतिरिक्त व्यक्ति और व्यक्ति से व्यतिरिक्त जाति की सत्ता ही नहीं है। अतः शब्द का वाच्य वह समन्वित सत्ता है जिसमें जाति और व्यक्ति दोनों अनुस्यूत हैं।

चतुर्थ अध्याय में हमने मुख्य रूप से भाषा की वाच्यता-सामर्थ्य पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में हमने भाषायी अभिव्यक्ति के प्रारूपों तथा कथन की सापेक्षता पर विचार किया है और यह भी बताया है किजैन दार्शनिकों के अनुसार भाषा में सीमित वाच्यता सामर्थ्य है। पदार्थ आंशिक रूप से ही वाच्य बनता है। अतः जैन दार्शनिक वस्तु तत्त्व को आंशिक रूप से वाच्य और समग्र रूप से अवाच्य मानते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध का पांचवाँ अध्याय भाषायी कथनों की सत्यता और असत्यता से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में हमने जैन आगमों में उल्लिखित सत्य भाषा, असत्य भाषा, सत्यासत्य, असत्य-असत्य भाषा एवं उनके विविध प्रकारों की चर्चा की है और इस सम्बन्ध में जैनों के दृष्टि-कोण की आधुनिक भाषा विश्लेषण के सिद्धान्त से तुलना भी की है।

शोध-निबंध का अन्तिम अध्याय उपसंहार रूप है। अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि जैन दार्शनिकों ने न केवल भारतीय दर्शन में प्रस्तुत भाषा सम्बन्धी विरोधी मतवादों में समन्वय स्थापित किया अपितु उन्होंने अर्थबोध की स्पष्टता के लिए नय-निक्षेप, स्याद्वाद, सप्तभंगी जैसे विशिष्ट सिद्धान्तों को भी उपस्थित किया और इस प्रकार भाषा दर्शन के क्षेत्र में उनका अवदान महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

प्रस्तुत शोध-निबन्ध में मैंने अपनी सामर्थ्य के अनुरूप जैन भाषा-दर्शन के प्रस्तुतीकरण का एक प्रयास तो अवश्य किया है यद्यपि मैं यह जानती हूँ कि इस दिशा में बहुत कुछ करने को शेष है।

शोध छात्रा पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी-५
दर्शन विभाग,
का० हि० वि० वि० में पी० एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत

उपदेशमाला (धर्मदासगणि) : एक समीक्षा

– दीनानाथ शर्मा

उपदेशमाला जैन औपदेशिक साहित्यविधा का प्राचीनतम (लग-भग १५०० वर्ष पुराना) और एक श्रेष्ठ प्राकृत ग्रन्थ है। इसमें चतुर्विध संघ के आचार से सम्वन्धित उपदेश संगृहीत हैं।

इस ग्रंथ में एक विशिष्ट शैली का निर्माण किया गया है जिसे वाद में अनेक जैनाचार्यों ने अपनाया और इस प्रकार के कई ग्रंथ लिखे गये। यहाँ पर सरल पद्यों में विविध औपदेशिक विषयों को लेकर उपदेश देने के साथ-साथ उस विषय के दृष्टान्त के रूप में जैन पुराणों में प्रसिद्ध कथाओं की एक माला-सी गुँथी गई है। ये दृष्टान्त उस लेखक के समय तक प्रचलित हो गये थे। नित्य स्वाध्याय करने वाले और व्याख्यान करने वाले साधुओं को भी इसके पद्यों को कण्ठस्थ करना सहज था। इसके पठन से पाठ करने वाले और सुनने वाले के सामने इन दृष्टान्तों की कथाएँ तादृश हो जाती थीं। इसलिए यह साधुओं और श्रावकों दोनों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ और इसका प्रचलन भी बहुत बढ़ा।

उपदेशमाला के आधार पर २४ औपदेशिक ग्रन्थ लिखे गये, इस ग्रंथ की ३२ बृहद् और लघु टीकायें भी लिखी गयी हैं। इसके आठ विभिन्न संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उपमितिभव-प्रपंचकथा नामक प्रसिद्ध महाकथा के रचयिता महान् जैनाचार्य सिद्धर्षि की हेयोपादेया टीका, उसका गुजराती अनुवाद, रत्नप्रभसूरि की दोघट्टी टीका उसका गुजराती अनुवाद और रामविजय की टीका तथा उसका हिन्दी अनुवाद सम्मिलित हैं।

इन सभी संस्करणों को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मूल पाठ में कहीं-कहीं पर व्याकरण की, छन्द की या दोनों की त्रुटियाँ हैं।

इसलिये उपदेशमाला के समीक्षात्मक सम्पादन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

उपदेशमाला की अनेक प्रतियाँ जैन भण्डारों में मिलती हैं उनमें से पुरानी एवं अधिक शुद्ध हस्तप्रतों में से इस समीक्षात्मक सम्पादन के लिये सात ताड़पत्रीय हस्तप्रत एवं एक कागज की हस्तप्रत को चुना गया है। इसमें एक जैसलमेर भण्डार की (वि०सं० ११९२), तीन खम्भात के भण्डार की (१–१२वीं सदी उत्तरार्द्ध, २–वि०सं० १२९०, ३–वि०सं० १३०८), दो पाटण की (एक वि०सं० १३२६ और दूसरी अज्ञात संवत्) और दो पूना (एक ताड़पत्र की और एक कागज की, समय–अज्ञात) की हैं।

सम्पादन में मौलिकता का ध्यान रखा गया है। पाठान्तरों को नीचे फुटनोट में दे दिया गया है। जो पाठ त्रुटित हैं उनको "क्षत" से दर्शाया गया है। छन्द में जहाँ प्रतों में ह्रस्व-दीर्घ का कोई संकेत नहीं मिलता वहाँ आवश्यकतानुसार संकेत चिह्न लगा दिये गये हैं, यथा वहुयाइं=बहुयाइं गाथा नं० (४) यहाँ पर— इं दीर्घ मात्रा पर ह्रस्व का संकेत लगाकर—इं कर दिया गया है।

वैसे तो उपदेशमाला में गाथाओं की संख्या भिन्न-भिन्न हस्तप्रतों एवं संस्करणों में ५४१ से ५४४ तक मिलती है लेकिन विषयवस्तु की दृष्टि से ५३९ गाथाएं ही उपयुक्त ठहरती हैं और ५४०वीं गाथा उपसंहार के रूप में है। इस प्रकार कुल ५४० गाथाएँ हैं और बाद की अन्य गाथाएं उपदेशमाला की प्रशस्ति के रूप में हैं।

इस शोध-प्रबन्ध में जो भाषा विषयक अध्ययन है उसमें उपदेशमाला का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमें ध्वनि-परिवर्तन और रूप-रचनाविषयक विवेचन है। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से मध्यवर्ती अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजनों में से २१.६% यथावत् है, १६ ६% घोष है, ६१.६% का लोप हुआ है (महाप्राण "ह" में परिवर्तित) और ०.२% में द्वित्व हुआ है। घोष होनेवाले व्यंजनों में केवल "क" और "प" का समावेश होता है।

उपदेशमाला के प्रकाशित अन्य संस्करणों में मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन के लुप्त होने पर अवशिष्ट अ या आ स्वर की "य" श्रुति तब होती है जब उसके पूर्व में अ या आ स्वर हो जब कि उपलब्ध प्रतियों

के अनुसार "अ" या "आ" के सिवाय अन्य स्वरों के भी पश्चात् अव-शिष्ट 'अ" "आ" की "य" श्रुति मिलती है। अतः प्रतियों के अनुसार ही "य" श्रुति अपनाई गई है।

रूपरचना की दृष्टि से पुंलिंग प्रथमा एकवचन के लिये प्रायः ओ विभक्ति का ही प्रयोग हुआ है। शेष विभक्तियाँ सामान्य हैं। विभक्तियों का व्यत्यय भी देखा गया है, जैसे तृतीया के लिए पंचमी और पंचमी के लिए द्वितीया, षष्ठी और सप्तमी।

क्रियाओं के प्रत्यय लगभग सामान्य हैं। कृदन्तों में पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय (ऊण, ऊणं) और हेत्वर्थकृदन्त के प्रत्यय (–उं) का एक दूसरे के लिए प्रयोग मिलता है। पूर्वकालिक कृदन्त के लिए हेत्वर्थं कृदन्त का प्रयोग १५.३% हुआ है और हेत्वर्थकृदन्त के लिए पूर्वकालिक कृदन्तों का प्रयोग ३०% हुआ है।

उपदेशमाला में छः पद्यों को छोड़कर शेष सभी पद्य गाथा छंद में हैं। छः पद्यों में से चार (नं० १३९, १८४, १८५, ३४१) अनुष्टुप् छन्द में हैं, एक (२०८) रथोद्धता और एक (४२६) विपरीत आख्यानकी छन्द में है।

इस ग्रन्थ के रचयिता जैनाचार्य धर्मदासगणि माने जाते हैं। अनु-श्रुतियाँ ऐसी हैं कि वे भ० महावीर के प्रत्यक्ष शिष्य थे लेकिन ग्रन्थ में वज्रस्वामी आदि के उल्लेख एवं भाषाकीय परीक्षण के आधार पर उनका समय ई. सं. पांचवी शताब्दी से पूर्व नहीं ठहरता है। लेखक की अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं होती है।

विषयवस्तुगत अध्ययन के अन्तर्गत उपदेशमाला की टीका में प्राप्त कथानकों की तुलना आगम और उनकी निर्युक्तियों, चूर्णियों, भाष्यों और टीकाओं के कथानकों से की गई है। कथानकों में जहाँ भेद आता है उनको फुटनोट में उनके सन्दर्भ के साथ दिया गया है। जहाँ कथा-नक समान हैं वहाँ फुटनोट में केवल सन्दर्भ दे दिये गये हैं। नीचे उन कथानकों की सूची दी जाती है जिनका उल्लेख आगमों में मिलता है :—

१. चन्दनबाला, २. भरत चक्रवर्ती, ३. प्रसन्नचन्द्र, ४. बाहुबली, ५. सनत्कुमार, ६. ब्रह्मदत्त चक्री, ७. उदायीनृप के हत्यारे की कथा,

८. जाता सासा का दृष्टान्त, ९. मृगावती, १०. जम्बूस्वामी, ११. चिलातिपुत्र, १२. ढंढकुमार, १३. स्कन्दकाचार्य, १४. हरिकेशबलमुनि, १५. वज्रस्वामी, १६. नंदीषेण, १७. गजसुकुमार, १८. स्थूलिभद्र, १९. सिंह गुफावासी मुनि, २०. पीठमहापीठ, २१. तामलितापस, २२. शालिभद्र, २३. अवंतिसुकुमाल, २४. मेतार्यमुनि, २५ वाचनाचार्य वज्रस्वामी, २६. दत्तमुनि, २७. सुनक्षत्रमुनि, २८. केशीगणधर और प्रदेशी राजा, २९. श्रीकालिकाचार्य की कथा, ३०. भ. महावीर के पूर्व-जन्म की कथा, ३३. वलदेवमुनि ३२. पूरणतापस, ३३. चन्द्रावतंसक, ३४. सागरचन्द्र कुमार, ३५. कामदेव श्रावक, ३६. दृढ़प्रहारी, ३७. चूलनीरानी, ३८. कोणिक राजा, ३९. चाणक्य, ४०. परशुराम और सुभूमचक्री, ४१. आर्यमहागिरि का गच्छत्याग, ४२. श्रीमेघकुमार, ४३. चंडरुद्राचार्य, ४४. पुष्पचूला, ४५. अर्णिका पुत्र, ४६. मरुदेवी, ४७. सुकुमालिका, ४८ मंगू आचार्य ४९. शैलकाचार्य, ५०. कुंडरीक और पुंडरीक, ५१. दर्दुरांकदेव, ५२. सुलस की कथा, ५३. जमाली, ५४. कछुए की कथा।

इन ५४ कथाओं के अतिरिक्त निम्न कथाएँ भी उपदेशमाला में निर्दिष्ट हैं :—

१. संबाधन राजा, २. वरदत्त मुनि, ३. द्रमक, ४. सहस्रमल्ल, ५. स्कन्दकुमार, ६. कनककेतु, ७. सात्यकि विद्याधर, ८. अंगारमर्दकाचार्य, ९. गिरिशुक पुष्पशुक की कथा, १०. शशिप्रभराजा, ११ पुलिंदभील, १२. विद्यादाता चाण्डाल, १३. अतिस्नानी, १४. कपटक्षम तपस्वी।



सह-शोधकारी
पा० वि० शोध संस्थान

गुजरात यूनिवर्सिटी, कला संकाय में
पी० एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध की रूप रेखा

साहित्य-सत्कार

नायधम्मकहाओ—सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी; प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, बम्बई–३७; मूल्य : १२५ रु०; संस्करण : प्रथम १९८९।

महावीर जैन विद्यालय जैन आगमों के प्रामाणिक संस्करणों के प्रकाशन का जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है वह अभिनन्दनीय है। उसी क्रम में प्रस्तुत कृति भी विद्वत् जगत् के समक्ष उपस्थित हुई है। ग्रन्थ में समीक्षित मूल पाठ के अतिरिक्त पाठान्तरों को भी समाहित किया गया है जो कि सम्पादक के कठिन श्रम और अध्ययन गाम्भीर्य के परिचायक हैं। पाठान्तर ग्रन्थ के अर्थ-निश्चयन में अनेक बार महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। मुनि श्री ने यह कार्य करके विद्वत् वर्ग पर अत्यन्त उपकार किया है। पुनः प्रथम परिशिष्ट के रूप में १२५ पृष्ठों की शब्द सूची दी गयी है जो शोधकर्ताओं के लिए बड़ी उपयोगी है। द्वितीय परिशिष्ट में अकारादि क्रम से गाथाओं की सूची दी गयी है और तृतीय परिशिष्ट में उन ग्राह्य पाठों का संकलन है जो "जाव या वण्णवो" शब्द से निर्दिष्ट है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में जम्बू-विजय जी की गुजराती और अंग्रेजी तथा देवेन्द्र मुनि शास्त्री की हिन्दी में विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ भी दी गयी हैं, जो ग्रन्थ की विषयवस्तु और उसके ऐतिहासिक तथ्यों को स्पष्ट करने में सहायक है। प्रकाशन सुन्दर और निर्दोष है। मुनिश्री की इस विद्या-सेवा के लिए हम उनके प्रति श्रद्धा-वनते हैं। प्रकाशक संस्था भी बधाई के योग्य है। आशा है मुनिश्री जम्बूविजय जी के मार्गदर्शन में महावीर विद्यालय सम्पूर्ण आगम साहित्य के प्रकाशन के इस महान कार्य को शीघ्र ही पूरा कर लेगा।

□

"जैन संस्कृत महाकाव्य" लेखक : डॉ० सत्यव्रत; प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं; संस्करण : प्रथम १९८१।

डॉ० सत्यव्रत का प्रस्तुत ग्रन्थ "जैन संस्कृत महाकाव्य" जैन संस्कृत वाङ्मय के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करता है। इसमें १५वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक के जैन संस्कृत महाकाव्यों का एक अनुशीलन किया गया है। इस काव्य में बाइस महाकाव्यों के संक्षिप्त परिचय के साथ-साथ उनकी समीक्षा भी की गयी है। प्रस्तुत कृति में इन तीन शताब्दियों में रचित जैन संस्कृत महाकाव्यों को चार भागों में विभक्त किया गया है: (१) शास्त्रीय महाकाव्य, (२) शास्त्र काव्य, (३) ऐतिहासिक महाकाव्य और (४) पौराणिक महाकाव्य।

प्रस्तुत कृति की समीक्षात्मक विशेषता यह है कि इसमें उस सामान्य अवधारणा का खंडन किया गया है जिसके अनुसार जैन कवियों के काव्यों में शान्त रस ही होता है, शृंगार और वीर रस नहीं। यद्यपि इसके पूर्व डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का "संस्कृत काव्य में जैन कवियों का योगदान" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ किन्तु एक ही ग्रन्थ में सम्पूर्ण जैन काव्य साहित्य का मूल्यांकन उतनी गहराई से सम्भव नहीं था। डॉ० सत्यव्रत ने तीन शताब्दियों के जैन संस्कृत महाकाव्यों को विवेच्य विषय बनाकर उसके साथ न्याय करने का प्रयत्न किया है। आशा है प्रस्तुत कृति विद्वत् जगत् में अपेक्षित स्थान प्राप्त करेगी। मुद्रण और प्रस्तुतीकरण अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकाशन के लिए प्रकाशन संस्था 'जैन विश्वभारती, लाडनूं' निश्चित ही साधुवाद की पात्र है। जैन विश्वभारती जैन विद्या से सम्बन्धित प्रकाशनों के क्षेत्र में जो श्रेष्ठतम कार्य कर रही है वह स्वागत योग्य है और स्पृहणीय भी। ग्रन्थ पठनीय और संग्रहणीय है।



जैन रामायण (राम-यशो-रसायन-रास)—मुनि केशराज; सं० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन; प्रकाशक : जैन सिद्धान्त भवन देवाश्रम, आरा, बिहार; प्रथम संस्करण : १९९१, आकार : डबल डिमाई, सजिल्द, मूल्य ८.०० रु० पृ० ७२+२५

रामकथा का, न केवल हिन्दू परम्परा में अपितु बौद्ध और जैन परम्परा में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विमलसूरि का पउमचरियं प्राकृत

भाषा में रचित रामकथा का आदि काव्य माना जाता है। इसी प्रकार रविषेण का पद्मचरित संस्कृत भाषा का जैन रामकथा विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू द्वारा रचित पउमचरिउ भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैनाचार्यों ने अपने-अपने युग की भाषाओं में रामकथा पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

प्रस्तुत कृति भी उसी क्रम में प्राचीन मरु-गुर्जर में रचित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसके लेखक विजयगच्छ के मुनि केशराज हैं। रचनाकाल वि० सं० १६८३ (ई० सन् १६२६) है। इस रामकथा का स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय में विशेष प्रचलन रहा है। इसके कुछ संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं किन्तु प्रस्तुत संस्करण का अपना वैशिष्ट्य है।

प्रस्तुत कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य तो यह है कि यह एक सचित्र प्रति है। इसके चित्र अत्यन्त ही आकर्षक और जीवन्त हैं, तथा उन्नीसवीं शताब्दी की जयपुर एवं मारवाड़ शैली के अनुपम नमूने हैं। प्रो० आनन्द कृष्ण ने इसे मथेन शैली के निकट बताया है। वस्तुतः जैन यतियों का एक वर्ग विशेष जो सचित्र जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपि एवं चित्र निर्माण से जुड़ा हुआ था, उनकी शैली ही मथेन शैली कहलाती है।

प्रस्तुत कृति के चित्रों में अनेक स्थलों पर जैन मुनियों का चित्रण भी हुआ है। मुनियों और साध्वियों की वेशभूषा स्थानकवासी परम्परा के अनुरूप चित्रित की गई है। साधु-साध्वियों के मुख पर मुख वस्त्रिका और लम्बी डण्डी युक्त रजोहरण इसके वैशिष्ट्य हैं। चित्र शैली से यह स्थानकवासी परम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है किन्तु इसमें तीन-चार स्थलों पर जिनमन्दिर और जिनबिम्ब का अंकन भी है। रामकथा के साथ-साथ अन्तर्कथा के रूप में जैन परम्परा की अनेक कथाएं भी सम्मिलित हैं और उनका भी सजीव अंकन यहाँ देखा जाता है। चित्र इतने चटकीले और स्पष्ट हैं कि देखते ही बनते हैं। मूल कृति के चित्रों को यथावत् उन्हीं रंगोंमें इस कृति में प्रस्तुत किया गया है। इस महत्त्व-पूर्ण एवं व्यय साध्य कार्य के लिए देवकुमार प्राच्य शोध संस्थान निश्चय ही बधाई का पात्र है। इस शोध संस्थान द्वारा स्वपरम्परा से भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थ का प्रकाशन इसकी उदार दृष्टि का परिचायक है।

प्रत्येक जैन संस्था और कलाप्रेमी जनों को इसका संग्रह अवश्य ही करना चाहिए। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ खण्डित रूप में ही प्राप्त हुआ है अतः सचित्र ग्रन्थ का प्रकाशन भी खण्डित रूप में ही है। बीच में अनेक पृष्ठ अनुपलब्ध हैं। प्रकाशकों ने इन लुप्त पृष्ठों के मूल पाठों का संकलन भी परिशिष्ट के रूप में कर दिया है जो उनकी श्रमनिष्ठा एवं सूझ-बूझ का परिचायक है। किन्तु यदि परिशिष्ट के रूप में मूल-ग्रन्थ के अनुपलब्ध पन्नों की विषय वस्तु के साथ ही समस्त ग्रन्थ के विषय वस्तु को देवनागरी लिपि में दे दिया जाता तो अध्येताओं को अधिक सुविधा होती क्योंकि इस सचित्र हस्तप्रत की लिपि को पढ़ने में शोध-कर्त्ताओं को असुविधा तो होगी ही।



जैन न्यायशास्त्र एक परिशीलन—लेखक विजय मुनिशास्त्री, प्रका०–दिवाकर प्रकाशन, A7–आवागढ़ हाउस, एम० जी० रोड, आगरा–२, प्र० सं० १९९०, आकार डिमाई, पेपरबैक मूल्य २० रु०।

५ अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक के प्रथम अध्याय को ४ प्रकरणों में विभाजित कर भारतीय दर्शनों में न्यायशास्त्र, इन दर्शनों की विशेषतायें, जैन प्रमाण और नय तथा जैन न्याय के कुछ सूत्र-ग्रन्थों का दिग्दर्शन है। दूसरे अध्याय में जैन प्रमाणों, नय और द्रव्य का निरूपण है। तीसरे और चौथे अध्याय में क्रमशः नय और निक्षेप का विवेचन है। अन्तिम अध्याय में शब्दार्थ निरूपण है।

जैन प्रमाण नय और निक्षेप के परिचयात्मक विवरण की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। विषय का प्रस्तुतीकरण सुव्यवस्थित हैं। पुस्तक की रूप-सज्जा व छपाई अत्यन्त आकर्षक है। पुस्तक का मूल्य अत्यल्प रखकर मुनिश्री ने पुस्तक को सहज-सुलभ बना दिया है।



जैनश्रमण-स्वरूप और समीक्षा—लेखक डॉ० योगेशचन्द्र जैन, मुक्तिप्रकाशन, अलीगंज, (एटा) उ० प्र०, प्रथम संस्करण १९९०, पृ० २२+३२०; मूल्य ३० रु०, साइज-डिमाई (हार्ड बाइण्ड)

लेखक द्वारा राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रस्तुत कृति मुद्रित रूप है। यह ५ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विभिन्न धार्मिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि में जैन श्रमणों का विवेचन है। साथ ही श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख संघों का सक्षिप्त परिचय दिया है। द्वितीय अध्याय 'श्रमण का स्वरूप' में महाव्रत और ३८ मूल गुणों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से विवेचन के साथ श्रमण दीक्षा की पात्रता, दीक्षा ग्रहण विधि, पिच्छि कमण्डलु एवं उत्सर्ग अपवाद मार्ग को भी संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में सम्पूर्ण श्रमण आचार संहिता का विवेचन प्रस्तुत करने के साथ आहार चर्या, एकल विहार, शरीर त्याग तथा शिथिलाचारी श्रमणों का विवेचन करते हुए नामोल्लेख पूर्वक उदाहरण दिये गये हैं। नामोल्लेखपूर्वक समालोचना स्तरीय ग्रन्थों की गरिमा को खण्डित करती है।

चतुर्थ अध्याय में श्रमणों के विभिन्न भेद-प्रभेद का वर्णन करते हुए अत्यन्त संक्षेप में श्रमणों के धार्मिक, दार्शनिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में अवदान को प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ में विवेचित प्रकरणों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने के पश्चात् वर्तमान काल में श्रमणों के आचार और सिद्धान्त में क्या और कितना अन्तर है इसका बेवाक विवरण दिया गया है, जो लेखक एवं कृति को तद्विषयक अन्य ग्रन्थों से अलग कर देता है।

पुस्तक का कलेवर सुन्दर है, छपाई भी अच्छी है। परन्तु प्रूफ संशोधन में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं, लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है पुस्तक निश्चित रूप से संग्रहणीय है।

●

धम्मपरिक्खा—आचार्य हरिषेण; सं० डा० भागचन्द्र जैन भास्कर; सम्मति रिसर्च इंस्टीच्यूट आव इण्डोलॉजी (आलोक प्रकाशन) न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर; प्र० सं० १९९०, पृ० १२१+१६०+१६ मूल्य ९५ रु०, डिमाई, सजिल्द।

दसवीं शताब्दी के आचार्य हरिषेण द्वारा अपभ्रंश में प्रणीत यह व्यंग्य प्रधान काव्य है जिसकी परम्परा धूर्ताख्यान से आचार्य हरिभद्र ने आरम्भ की थी। धम्मपरिक्खा में परपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का मण्डन किया गया है। पौराणिक कथाओं के चामत्कारिक एवं अतिरंजित वर्णनों का युक्तियों द्वारा खण्डन इसका प्रयोजन रहा है।

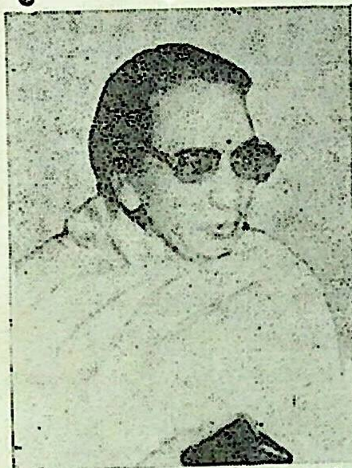
यह काव्य ११ सन्धियों (अध्यायों) में विभाजित है। मनोवेग नामक प्रमुख पात्र अपने अभिन्न मित्र पवन वेग को किस प्रकार सन्मार्ग से जोड़ता है और उसे मिथ्यादृष्टियों से मुक्त करता है यही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस संस्करण में प्राचीन प्रतियों के आधार पर मूल का पाठ भेदों के उल्लेख सहित सम्पादन किया गया है। मूल का विस्तार से हिन्दी भावानुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। सम्पादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में धम्मपरिक्खा शीर्षक १७ ग्रन्थोंका परिचय, हरिषेण नामधारी ७ कवियों का परिचय, ग्रन्थ की साहित्यिक विशिष्टता, दी है जहाँ तक कवि के परिचय का प्रश्न है यह अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें वर्णित कथायें वैदिक परम्परा में भी प्राप्त होती हैं उनका वैदिक परम्परा में क्या स्वरूप है इसका भी परिचय सम्पादक ने दिया है। इस संस्करण में व्याकरणात्मक विश्लेषण भी दिया गया है। इस क्रम में व्यञ्जन-विकार, परिवर्तन, शब्द साधक प्रणाली, रूप साधक प्रणाली, सहित प्रत्ययों का विवेचन है।

ग्रन्थ के अन्त में विशिष्ट शब्दों की सूची भी प्रस्तुत है। इस प्रकार Jainism in Buddhist Literature आदि २५ ग्रन्थों के लेखक डा० भागचन्द्र जैन भास्कर का यह श्रमपूर्वक किया गया स्तरीय प्रयास है। ग्रन्थ की रूप-सज्जा आकर्षक है। छपाई अच्छी है। इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए डा० जैन बधाई के पात्र हैं।



पुण्य-स्मृति



श्रीमती शकुन्तला रानी जैन पत्नी श्री शादीलाल जी जैन, मालिक श्री मोती लाल मुनीलाल जैन अमृतसर, का निधन २५-१२-१९९० को अमृतसर में हो गया। उनकी आयु ७२ वर्ष की थी। वे सुयोग्य गृहणी, धर्मपरायण, मृदुभाषी, समाजसेवी व अन्य गुणों से परिपूर्ण थीं। वे संस्थान के मन्त्री श्री भूपेन्द्र नाथ जी जैन एवं कोषाध्यक्ष श्री सुमति प्रकाश जी एवं उपाध्यक्ष श्री नृपराज जी की बहन थी। संस्थान के विकाश में उनकी बहुत रुचि थी। पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार उन्हें अपनी भाव-प्रवण श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

० ० ०

आचार्य श्री हस्तीमल जी का (निमाज पाली) में सल्लेखनापूर्वक समाधिकरण हो गया। आचार्य श्री स्वाध्याय और सामायिक साधना के प्रबल पोषक थे। आपकी प्रेरणा से विभिन्न नगरों में स्वाध्याय संघों की स्थापना हुई। आपने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रन्थों की संस्कृत और हिन्दी व्याख्यायें लिखी थी। आपके देहावसान से स्थानक वासी जैन समाज के एक वरिष्ठतम विद्वान की अपूरणीय क्षति हुई है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

० ० ०

जैन धर्म एवं दर्शन के उदीयमान विद्वान श्री जीतेन्द्र बी० शाह अहमदाबाद के पूज्य पिताजी श्री बाबूलाल जी शाह का दिनांक २८ मार्च को अहमदाबाद में स्वर्गवास हो गया। आप श्री धर्म-प्रवण एवं समाज-सेवी सुश्रावक थे। आपके निधन से एक उदार, धर्मप्रेमी श्रावक हम लोगों के बीच से उठ गया है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार मृतात्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है। श्री जितेन्द्र शाह एवं अन्य आत्मीय जनों के प्रति सम्वेदना व्यक्त करता है।

Statement about Ownership and other particular of the Paper

SHRAMANA

1.	Place of Publication	: P. V. Research Institute I. T. I. Road, Varanasi-5
2.	Periodicity of Publication	: First week of English calendar month.
3.	Printer's Name, Nationality and Address	: Dr. Sagar Mal Jain Indian Divine Printers B 13/44, Sonarpura, Varanasi
4.	Publisher's Name, Nationality and Address	: Dr. Sagar Mal Jain Indian P. V. Research Institute I. T. I. Road, Varanasi-5
5.	Editor's Name, Nationality and Address	: Same
6.	Names and Address of individuals who own the Paper and Partners or share-holders holding more than one per cent of the total capital.	: Shri Sohanlal Jain Vidya Prasarak Samiti, Guru Bazar, Amritsar (Registered under Act XXI as 1860).

I, Dr. Sagar Mal Jain hereby declare that the particular given above are true to the best of the knowledge and believe.

Dated 1-4-1991

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagar Mal Jain

श्रमण

जनवरी-मार्च १९९१ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६२

Edited by Dr. Sagar Mal Jain and Published by the Director, P. V. Research Institute, Varanasi-221005
Printed at Divine Printers, Sonarpura, Varanasi.